UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180253

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP -787 -136-75 -10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H87 K97S Accession No. H4809

Author कुड्डिचातन .

Title सब रंग और कुछ राग 1956

This book should be returned on or before the date last marked below

सब रंग
और कुछ राग

सब रंग

और कुछ राग

रचयिता

'कुट्टिचातन्'

लेखक

सच्चिदानन्द वात्स्यायन

राधाकृष्ण प्रकाशन

©
सच्चिदानन्द वात्स्यायन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण, १९५६

H4801

द्वितीय (सर्वधित) सस्करण : १९७०

मूल्य
९ रुपये

प्रकाशक
अरविन्दकुमार
राधाकृष्ण प्रकाशन
२, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक
रूपक प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

तीन चीनी बन्दरों में से
उस एक को
जो मुँह पर उँगली रखे बैठा रहता है
क्योंकि अगर बोलने का निषेध न होता तो यह खुराफ़ात
लिखने की नौबत क्यों आती ?

क्रम-सूची

श्री गणेश	...	९
राष्ट्र के प्रतीक	...	११
मार्ग-दर्शन	...	१५
दिल्ली देखा कि आगरा ?	...	२२
पहला रिपोर्टर	...	२८
अकेलापन	...	३३
गिलहरी	...	३८
पनीर का टुकड़ा	...	४४
पीपल	...	४९
शारदीया धूप	...	५४
सन्नाटा	...	५९
गाँव का पोखर	...	६४
कुछ वर्गवाद	...	६८
दृष्टिकोण	...	७४
सभ्यता की न्यामतें	...	७९
नखरे में गर्म मसाला	...	८३
भूमिका तो रह ही गयी	...	९३
सेवा-पुराण	...	९७

श्री गणेश

सब रंग का—उसके वर्तमान रूप का—प्रकाशन थोड़ी सफाई माँगता है। अगर बुहारी से नहीं, और अगर यह भी नहीं कह सकता कि मुझ से, हम से या किस से?—यानी अगर अपराधी-भाव भी मुझ में नहीं है और अगर इसलिए दूसरे अर्थ में भी सफाई अपेक्षित नहीं है—तो सफाई किसे कहा जाएगा? समझ लीजिए कि 'कुट्टिचातन्'—दक्षिणी लोक-जीवन का वह मसखरा बौना जो जिस के-तिसके कन्धे पर सवार हो कर उसे मनमाने नाच नचाता है—खुली हवा का प्राणी है; और इन पंक्तियों का लेखक भी खुली हवा में और साफ-सुथरे पर्वती वन-प्रदेशों में पला है और घूमने-फिरने का आदी है, उस का कैशोर दक्षिण के पहाड़ी वनों में बीता और दक्षिण में ही उसने पढ़ना-लिखना सीखा, इसलिए वह अपने को दक्षिणी (भी) माने तो अचम्भा नहीं होना चाहिए। 'कुट्टिचातन्' से उस के परिचय, सख्य और कलाई-पँचागला योग की यह कैफियत ही सफाई के नाम पर काफी है। कंधे पर सवारी की जरूरत नहीं पड़ी; 'कुट्टिचातन्' ने कभी-कभी कलाई पकड़-कर कुछ लिखा लिया है जो जब-तब छपता भी रहा है। कुछ निबन्ध 'प्रतीक' में छपे थे, कुछ अन्यत्र छपे; फिर **सब रंग** नाम का संकलन सरस्वती प्रेस से छपा जो बहुत दिन से अप्राप्य है। इस बीच कई लोगों ने जान भी लिया कि 'कुट्टिचातन्' जब उत्तर में आकर उतरता है तो किस पर, इस लिए इस बात को दूसरों से छिपा रखने का कोई महत्त्व भी नहीं रह गया।

यह प्रकाशन उस **सब रंग** का पुनर्मुद्रण मात्र नहीं है, यद्यपि उसके सब निबन्ध इस में हैं। पुस्तक के नाम में ही इस नयी स्थिति की कैफियत दे दी गयी है। सब रंग—और थोड़ा राग : राग के नाम पर कुछ-एक नये निबन्ध हैं जिनमें कुछ यहाँ पहली बार प्रकाश में आ रहे हैं। पहले भी सब रंग ही रंग नहीं था, थोड़ा राग-रोष भी उस में व्यंग्य था; नये निबन्धों में इसका कसैलापन थोड़ा अधिक है शायद; राग-रंग के बीच इस नये राग-स्वर की पहचान पर आपनारा राग करि-बेन ना यही अनुरोध है।

'कुट्टिचातन्' की और भी कुछ रचनाएँ छप चुकी हैं जो यहाँ संकलित नहीं; कुछ अप्रकाशित हैं जो यहाँ नहीं जोड़ी गयी। शायद कभी एक नया संग्रह भी

प्रकाश मे आये। वह कब होगा, पता नहीं : 'कुट्टिचातन्' की मौज पर—और हाँ, आप पाठक की मौज पर—सब-कुछ निर्भर है। इन पंक्तियों के लेखक का काम गौण है; वह केवल पकड़ाई देता है। यदा-यदा कुट्टिजातो व्यासायते, तदा-तदा वात्स्यायनो गणेशायते। इति।

इति के बाद नमस्कारान्ते नहीं जोड़ता—तन्नरेशाय तन्न मम—पर कुट्टि-जात व्याम की असीम अनुकम्पा से यह जो श्रीगणेश हुआ है, भवताम् सदा मुदतु।

सच्चिदानन्द वात्स्यायन

राष्ट्र के प्रतीक

उस दिन हम लोगों में गेंदे के फूल को लेकर बड़ी चर्चा हो गयी। बात यों हुई कि उत्तर भारत के एक समाचारपत्र में कुछ दिनों से 'सम्पादक के नाम चिट्ठी-पत्री' वाले स्तम्भ में इस बात को लेकर काफी चखचख होती रही है कि लौकिक गणतन्त्र भारत का प्रतीक अशोक की सिंहत्रयी हो या कि ओडिसा-अमरावती के मदमाते गयन्द। इस 'गज-शार्दूलीय' में रामपुरवा के वृष का भी आ भिड़ना भारतीय पुरातत्त्व से यत्किंचित् परिचय रखने वाले साधारण तर्कजीवी की भी समझ में आ जाएगा। उसमें गेंदे के फूल तक की परम्परा निरे तार्किक के लिए उतनी प्रत्यक्ष नहीं भी हो सकती है, लेकिन जो लोग सामाजिक वार्त्तालाप की आभ्यन्तर तर्क-संगति को समझते हैं, उन्हें इस पूर्वापरता की सहज अनिवार्यता देखने में कठिनाई न होनी चाहिए—भले ही फ्रायड के 'स्वच्छन्द विचार-संगति' के सिद्धान्त को वे न मानते हों।

कहीं आपको सारी बात हँसी की न मालूम हो, इसलिए प्रश्न को गम्भीरता के साथ आपके सम्मुख रख देना उचित होगा। इस नवीन, जीवित, विकासशील लौकिक गणतन्त्र का प्रतीक एक जड़, परिवर्तनहीन पुराखंड क्यों हो – वह भी एक ऐसे स्तम्भ का खंड, जो अपने समय में एकच्छत्र राजत्व का प्रतीक रहा और फिर ये सारी चीजें है भी तो निरी कलावस्तु और कला की परिभाषा में ही यह बात निहित है कि वह लोकोत्तर आनन्द देती है; एक लौकिक सत्य का प्रतिनिधित्व करे ऐसी चीज जिसकी पहली शर्त्त है उसकी लोकोत्तरता, इस इतने बड़े विरोधाभास को विरोधाभासों का प्रेमी भारत भी कैसे सह सकता है!

इस विरोधाभास वाली बात को आप भारत का अपमान न समझें: यह वास्तव में संसार के सात अचरजों में आठवाँ है। नहीं तो यह कैसे होता कि जिस देश ने 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का आदर्श संसार के सामने रखा, उसी ने जात-पाँत की व्यवस्था भी दी—और ऐसे विकट रूप में कि वह इस्लाम और ईसाइयत पर भी हावी हो जाये? नये ईसाइयों को छुआछूत बरतते देखकर हमने एक बार आश्चर्य प्रकट किया था तो उन्होंने कहा था, "ईसाई हो गये तो क्या हुआ, धर्म थोड़े ही छोड़ दिया है?" जिसने कहा 'तत्त्वमसि', 'शिवोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि', उसी ने

तेंतीस कोटि देवता भी गिना दिये ?

लेकिन हम धर्म-निरपेक्षता की बात कह रहे थे, उसमे धर्म-सिद्धान्तों की चर्चा कदाचित् युक्ति-संगत न हो। इसलिए एक-दूसरे स्तर पर आये। हमारा देश सारी दुनिया मे अध्यात्मवादी प्रसिद्ध है : आपने नहीं देखा कि टूरिस्ट अमरीकी नारियाँ जो होती है तो बस होती है—उनकी मांसलता ऐसी मुखर होती है—कैसे भारतीय चित्र कला मे नारी रूपको देखकर आँखें गोल-गोल करके कहती है : "ओरिएंटल ब्यूटी सो स्पिरिचुअल,"—मानों 'स्पिरिचुअल' और 'ओरिएंटल', प्राच्य और आध्यात्मिक, सम्पूर्ण पर्याय हों ? और आध्यात्मिक सौन्दर्य के उपासक इस देश मे भी बगदेश के लोग विशेष रूप से सूक्ष्मतर पैलव सौन्दर्य के पुजारी होते है, हम दाक्षिणात्यों का सौन्दर्य-बोध तो तर्क-सौन्दर्य तक ही रह जाता है। लेकिन हमारे एक मित्र ने हमे बताया था कि एक बार कमल और कुमुद के सौन्दर्य की तुलना के बारे में विवाद छिड़ने पर उन्होंने कहा था कि वह कुमुद को अधिक सुन्दर मानते है (कदाचित् इसलिए कि निशापद्म का सौन्दर्य अधिक आध्यात्मिक होता है ?) तो एक बगाली महाशय ने उनका समर्थन करते हुए कहा था, 'हाँ, हाँ, उसकी चच्चड़ी बहुत अच्छी होती है'—"की शुन्दोर !" इस आध्यात्मिक देश मे इस चरम कोटि का उपयोगितावाद कहाँ से आया ? इस प्रश्न का और क्या उत्तर हो सकता है सिवा इसके कि 'वही से तो—आध्यात्मिकता से ही तो' ?

और भी देखिए : सारा संसार फूल के सौन्दर्य की पूजा करता है – फूल सुन्दर है, इससे आगे वह कुछ नही माँगता : 'ब्यूटी इज ट्रूथ, ट्रूथ ब्यूटी, दैट इज आॅल यी नीड टु नो'। लेकिन एक भारतीय है कि पूछता है, निरे रूप से क्या ? इस फूल की उपयोगिता क्या है ? क्या वह गन्ध देता है ? पलाश मधुऋतु मे वनाग्नि की तरह दहक उठता है, और उसीसे लोग वसन्तागम पहचानते है, लेकिन उससे क्या—वह फूल काम कौन से आता है ? 'निर्गन्धा इव किंशुकाः'—अरे म्याँ, तुम भी हो निरे टेसू !

और चम्पक बेचारा तो टेसू से भी अभागा है। उसके पास न केवल इतना रूप है कि प्रिया की कोमल अगुलियो की उपमा उसकी कली से दी जाय, वरन् इतनी गन्ध भी है कि हाथी का हाथी उससे मतियाया डोलता फिरे—लेकिन रूप और गन्ध से भी क्या ? उससे किसी मधुप का पेट तो नहीं भरता—"रूप सौरभसमृद्धि समेत चम्पक प्रति ययुर्न मिलिन्दाः"— थुड़ी है उस सौन्दर्य और गन्धमादकता पर, जो एक भौरे के काम भी न आये !

एक अकेले कालिदास ने कही कह दिया था. 'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्य'—सिवार से घिरा हुआ भी कमल रम्य है, जो मधुर है उसे मंडन की क्या आवश्यकता ? लेकिन एक तो कालिदास की निरंकुशता प्रसिद्ध है, दूसरे उसने भी 'जो सुन्दर है' नही, 'जो मधुर है' कहा—'किमिव हि मधुराणाम्'। तो कदाचित्

कमल-मधु की भोक्तव्यता की ओर उसका ध्यान था ही—मधु कुस्थान में होकर भी भोग्य है, कदाचित् यही वह कहना चाहता था—(क्योंकि माक्षिक मधु भी आखिर क्या है ? मक्खी का थूक !) और हमें यह भी तो स्मरण रखना चाहिए कि कालिदास का दुष्यन्त, 'मडनंनाकृता' और अपने को पुरुष-दृष्टि से सम्पृक्त न जानकर सहज क्रीड़ा करती हुई शकुन्तला की निर्बन्ध रूपराशि को देखकर भी धन्य अपने को नहीं मानता; मानता है किसे ? उस भौंरे को, जो शकुन्तला को सता रहा है : 'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती'—कृती वह, जो उस मांसल सौन्दर्य का उपभोक्ता है, हम तो मुँह देखते ही रह गये !

किस्सा कोताह : बात गेंदे के फूल की हो रही थी। राष्ट्र के प्रतीक पुराणो-काव्यो मे से भी नही मिलते, और पुराखंडों मे तो भला मिल ही क्या सकते है। सारनाथ के सिंह या रामपुरवा के वृष की बात न होकर अगर मैसूर के हाथी या बनारस के बिजार की बात होती, तब तो उनकी बात सोची भी जा सकती : हमें तो जमनापारी बकरी या पछाँही भैंस पर भी कोई आपत्ति नही। अगर साम्राज्ञी 'राजमहिषी' हो सकती थी, तो जिस अनुपम भैंस ने इस तुलना को जन्म दिया वह स्वयं क्यो नही लोकतन्त्र की प्रतीक हो सकती ? संस्कृत मे कहा है, 'त्वमक्षर परमं वेदितव्यम्', और हिन्दी मे कहावत है, 'काला अक्षर भैंस बराबर'—तो क्या भैंस ही हमारी परम वेदितव्य नही सिद्ध हो जाती ? लेकिन बात फूलों की हो रही थी, फूलों मे भी गेंदे के फूल की। न मालूम क्या सोचकर कुछ लोगों ने कमल को राष्ट्र-प्रतीक बनाने का प्रस्ताव किया था—उसका तो नाम ही उसे अयोग्य ठहरा देता है, यह निर्णय पाने के लिए किसी चुनाव अदालत के पास जाने की आवश्यकता नही है। क-मल, पानी का मैल। पक-ज—कीचड़ से उत्पन्न। दिन मे आठ बार नहाने वालों के देश के प्रतीक का ऐसा भरष्ठ नाम ! और गेदा तो लोक-प्रमाण है। लोक-साहित्य मे एक शायद गुडहल को छोडकर और कौन फूल गेंदे के आस-पास भी आता है ? कालिदास को ताक पर रख दीजिए। यह बताइए कि ग्रामवासी भारत के किस नायक ने प्रिया की कबरी का कमल, किस ग्रामीण ने सैंया के सिर का सिरिस होना चाहा ? आत्म-निवेदन की पराकाष्ठा मे वह कबरी बन्ध का गुड़हल का फूल होना चाहता है, तो वह सैंया की गोदी का गेदा बनना चाहती है : चम्पक और पाटल, पद्म और पारिजात झख मारते रह जाते हैं।

और लोक-साहित्य परम प्रमाण है। लौकिक आदर्शों के इस युग मे इससे बढ़कर क्या प्रमाण हो सकता है ? जो रूढ़िवादी लोग अभी भी आर्ष प्रमाणों के सहारे चलना चाहते है, उन्हे भी यह याद करके सन्तोष करना चाहिए कि परम वेदज्ञ यास्क भी इसी मत के थे—वह भी कह गए है 'लोकं पृच्छ'—प्रमाण के लिए लोक-साधारण के पास जाओ !

इसलिए हमे तो यह बात विवाद से परे जान पड़ती है कि हमारे राष्ट्र का प्रतीक गेंदे का फूल ही हो सकता है। यों कभी पंजाबिनों को फूली हुई गोभी की तरह गदराये हुए घूमते देखकर यह प्रश्न भी मन में उठा है कि गोभी का—या फिर उतना ही ठोस और उससे भी अधिक मोतबिर केले का फूल क्यों नहीं राष्ट्र-प्रतीक हो सकता ? पर गेंदे की सार्वदेशिकता असन्दिग्ध है। और फिर गोभी-केले के फूल तो खाये ही अधिक जाते है, उन्हे तरकारियों में गिनना ही समीचीन होगा—और तरकारियों में आलू से अधिक राष्ट्रव्यापी कौन होगा, भले ही उसे इस देश मे आये अभी चार सौ वर्ष न हुए हो ? तरकारियों में आलू या आलू को विदेशी मान लिया जाय तो बैगन, फलों मे अमरूद—ये भारतीयता के प्रतीक है। और फूलों मे गेंदा। यह बात फिर से कहने में आवृत्ति दोष नहीं है, आवृत्ति अलंकार है—राष्ट्र-प्रतीकों का बारम्बार स्मरण ही नहीं, जयजयकार होना चाहिए गेंदे की जय। झंडू की जय ! जवन्दी पू की जय !

मार्ग-दर्शन

उस दिन लखनऊ जाना हुआ था। एक तो यों ही अजनबी आदमी, दूसरे घूमने का शौक, बार-बार भटक जाता और तब यों ही किसी राह चलते से पूछ बैठता : "क्यों साहब, अमुक स्थान का रास्ता कौन सा है ?" फिर वह 'अमुक' स्थान अमीनाबाद हो, या चौक, या हजरतगंज, इमामबाड़े या केसर बाग, पुरानी रेज़िडेंसी या गोमती का पुल या छतरमंजिल...मतलब यह कि अगर मैंने अमीनाबाद का नाम ले ही दिया तो यह नहीं कि मुझे वहीं जाना था, केवल यही कि जो दस-पाँच नाम सुन रखे थे उनमें से एक का होना चाहिए, और हो सके तो ऐसा भी कि जिधर मैं जा रहा हूँ उससे ठीक उलटी दिशा में तो न पड़े।

लेकिन जो बात मुझे कहनी है उसका सम्बन्ध मेरे पूछने से नहीं, बताने वाले के बताने से है। क्योंकि यह जानते हुए भी कि लोगों के मार्ग बताने के तरीके अलग-अलग होते हैं, 'नखलऊ' का तरीका कुछ निराला ही मालूम हुआ। यह तो सुन रखा था कि किसी बंगाली से मार्ग पूछो तो वह प्रश्न सुनने से पहले ही खीझे-से स्वर में कह देगा "जानि ना!" और किसी बनारसी (या कि बनरसिये) से पूछो तो वह ठोड़ी किसी तरफ को उठाकर सुरती की पीक संभालते हुए कह देगा "इ का है सामने!"—फिर आप 'सामने' का चाहे जो अर्थ लगाते रहिए, और ठोड़ी किधर को उठी थी यह निश्चय करने के लिए चाहे जितने पैंतरे कर लीजिए! पंजाबियों का—विशेषकर लोमश-गोत्रीय पंजाबियों का—बना-बनाया उत्तर प्रसिद्ध ही है कि "जी, मैं तो इस शहर का नहीं हूं"—फिर चाहे प्रश्न आपने यही पूछा हो कि सूरज किधर निकलता है! एक बार पटने में एक सज्जन से गोलघर का रास्ता पूछा था तो उन्होंने जिस वात्सल्यभरी टान के साथ कहा था, "गोलघर जाबैं क बाटे नू!" उसे लक्ष्य करके मैं मुग्ध होकर रह गया था—यह सोचकर कि पाटलिपुत्र में सवाल भी ऐसे पूछा जाता है मानों आशीर्वाद दिया जा रहा हो—पर फिर उन सज्जन ने मुझसे अधिक मुग्ध मुद्रा बनाकर बड़ी-बड़ी चकित आँखें मुझपर जमाकर कहा था, "वह तो हम नहिएँ बता सकते है", मानों सारा दोष कम्बख्त गोलघर का ही हो जो रोज़ न जाने किधर मटरगश्ती करने निकल जाता है!

लेकिन लखनऊ मे नफ़ासत नहीं तो कुछ नही। जो बताने लगता, वड़ इत-मीनान से और आवाज़ मे माधुर्य भरकर। लेकिन यहाँ से आगे उसे उसीके शब्दों में देना उचित होगा।

वह : "तो आप— जायेंगे ? हाँ साहब, तो आप इधर सीधे तशरीफ़ ले जाइये, वह जो दूसरा चौराहा दीखता है न—"

मै : "हाँ—"

वह : "वही जहाँ वह लाल साइनबोर्ड है, जिस पर लिखा है पं० रोशनलाल दिव्यचक्षु राजज्योतिषी—"

मैं : (कुछ अनिश्चित-सा क्योकि इतनी दूर से बोर्ड पढ़ना मेरे लिए असम्भव है) "हाँ—"

वह : (मेरे अनिश्चय को लक्ष्य करके) "वही एक पानी का कल भी है जिसमें पाँच टोंटियाँ है, उसके पास से एक गली दाहिने को मुड़ती है जिसमें थोड़ी दूर पर पीतल के बरतनो की एक दुकान दीखती है—"

मैं : (इस सब ब्यौरे को स्मृति-पटल पर बैठाने की कोशिश करता हुआ) "अच्छा—"

वह : "उधर मत जाइयेगा। सीधे आगे चलकर थोड़ी देर बाद एक ढलान शुरू हो जायगा, जो आगे रेल की पटरी के नीचे से गुज़रता है—दो मेहराबों वाला एक पुल है, जिसके नीचे से आने और जाने वाला ट्राफिक अलग-अलग जाता है—पुल से गुज़रकर सड़क धीरे-धीरे मोड़ लेती है और सिनेमाघर के पास—"

मैं : "कौन-सा सिनेमा घर ?"

वह : "अजी वही—निशात (या जो भी नाम रहा हो), लेकिन उधर मत जाइयेगा। बल्कि पुल तक भी आपको जाना नही होगा, उससे पहले ही एक सड़क बाये को मुड़ जाती है, जिस पर थोड़ी दूर जाकर ताँगों का एक अड्डा मिलता है। वहाँ से तीन रास्ते निकलते है। सबसे परला ज़रा सुनसान-सा दीखता है—"

मै : (कुछ अधीर, और यह सोचता हुआ कि इतना सब तो मुझे याद नहीं रहेगा, आगे फिर पूछ लूँगा) "अच्छा, मैं समझ गया—"

वह : "उधर मत जाइयेगा। जो दूसरा रास्ता—"

लेकिन इतने से आप लखनऊ की विशेषता अवश्य पहचान गये होंगे। अगर मैंने झल्लाकर यह नहीं कह दिया कि "हाँ साहब, सब समझ गया; जो-जो रास्ता आप बताते जायेंगे वह-वह छोड़ता हुआ मैं चला चलूँगा और इस प्रकार ठीक वहाँ पहुँच जाऊँगा जहाँ कि मुझे पहुँचना नही है," तो इसीलिए कि भला किसी लखनऊ वाले को ऐसी रूखी बात कैसे कह दी जा सकती है ? जो सुना है गुलाब-जामुन भी छीलकर तश्तरी में पेश करते है...

ऐसी स्थिति मे लखनऊ में देखा क्या होगा यह तो आप सोच ही सकते है, हाँ जिन-जिन सड़कों पर नही गया, जिन-जिन मोड़ो पर नही मुड़ा, जिन-जिन गलियो में नहीं घुसा, उनका ब्यौरा आपको काफी विस्तार के साथ सुना सकता हूँ—इतने विस्तार से कि आप ज़रूर मुझे लखनऊ वाला मान लें (यदि आप स्वयं ही लखनऊ वाले न हो)।

यों लखनऊ के मार्ग बता सकना पर्याप्त नही है। बल्कि लखनवी सस्कार का उससे पुष्टतर प्रमाण यह होगा कि दूसरे शहरो के मार्ग भी लखनवी पद्धति से बता सकें। कहावत है कि किसी के मित्र कौन है यह पता लगते ही बताया जा सकता है कि वह स्वयं कैसा है : हम तो समझते है कि मित्रों से परिचय की भी कोई ज़रूरत नही है। आप एक बार उससे उसके घर का रास्ता पूछ लीजिए : इस प्रश्न के उत्तर मे ही उसके सारे सस्कार मुखर हो उठेंगे। और उसके संस्कारों से आप उस सामाजिक परिवृत्त को भी पहचान सकेंगे जिस से वह आया है—यानी उसकी सस्कृति से आपका परिचय हो जायेगा। आप चाहे तो इसे एक नया सिद्धात समझ सकते है। इस प्रबन्ध को मार्ग-निर्देशन या 'मार्ग-निदर्शन' न कह कर 'मार्ग-दर्शन' कहने का कारण इसी नये सिद्धान्त का आग्रह है। यो जो लोग शीर्षक मे पूरी की पूरी बात कह देने के समर्थक है वे इसे 'मार्ग-निदर्शन-दर्शन' भी कह सकते है; और जो उसे साथ-साथ चमत्कारी रूप भी देना चाहते है वे उसे 'दिग्दर्शन-दर्शन' भी कह सकते है।

संस्कृति देश-काल-मर्यादित होती है, यह तो सभी जानते है—यहाँ तक कि विश्वविद्यालयो के प्रोफेसर भी। यद्यपि कही आप उनकी बात समझ न ले इसलिए वे इसे कहेगे कि 'संस्कृति का एक आयाम दैशिक होता है, दूसरा कालिक।' जिस प्रकार हम देश-काल-ज्ञान से किसी व्यक्ति के संस्कारो का अनुमान कर लेते है, उसी प्रकार व्यक्ति के संस्कारो से हम उसके देश-काल को भी पहचान सकते है। लखनवी-बनारसी, बिहारी-बंगाली-पजाबी की पहचान के सूक्ष्म सकेत तो हमने ऊपर दे ही दिये; अपने अनुमान-संधान को काल के आयाम मे बढ़ाये तो इस दर्शन की उपयोगिता और मौलिकता और भी स्पष्ट हो जायगी। कोई स्थान संकेत देते हुए कहता है :

> *पेड़ो के नीचे शुक-शावको के मुंह से गिरे हुए तृण-धान्य है,*
> *पत्थर इंगुदी फलो के तोड़े जाने से तैलाक्त हो रहे है. आश्वस्त भाव से*
> *घूमते हुए मृग शब्द सुनकर भी नही चौकते, जलाशय के पथ पर वल्कल*
> *शिखा से झरी हुई बूँदो से रेखाएँ खिच गयी है—*

इन सकेतों से यह समझ लेना कठिन नही है कि यह ऋषि-उपवन का मार्ग है, और इससे यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई असाधारण बुद्धि नहीं चाहिए कि ऐसे मार्ग-संकेत का काल आश्रम-सभ्यता का काल है।

कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूलाः
भिन्नो रागः किशलयरुचामाज्य धूमोद्गमेन—

पवनालोडित कुल्या के जल से वृक्षों के मूल धुले हुए हैं, और यज्ञ-धूम से उन के किसलयों का रंग बदल गया है : इन लक्षणों से हम केवल एक आश्रम की समीपता ही नहीं पहचानते, एक समूचे सांस्कृतिक वायुमंडल का स्पर्श हम पा लेते है। और इसीलिए अनन्तर जब हम पाते है कि आश्रम छोड़कर जाती हुई शकुन्तला अपनी सखियों को तो कण्व ऋषि को सौंप देती है, किन्तु 'अपसृत-पांडुपत्र'-रूपी आंसू बहाने वाली लता से गले मिलती है, क्योंकि वह माधवी लता तो 'लताभगिनी' है, तो हमे आश्चर्य नहीं होता—उस वातावरण मे जीव और जीवेतर सभी का संवेदनशील होना ही सम्भाव्य है।

किन्तु साहित्यिक मार्ग-संकेतो के उदाहरण के बिना भी काल-सापेक्ष्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित हो सकता है। मार्ग-निर्देशन के तरीकों मे पीढ़ी दर पीढी कैसे परिवर्तन हुए होंगे, यह खोज और कल्पना का बहुत अच्छा विषय हो सकता है। आपका गन्तव्य जो ग्राम है, उसका नाम 'जोगीमारा' न भी हो तो भी अगर आपको 'सीतला की मढिया के आगे जो अमराई पड़ती है, उसके किनारे के भुतहे पीपल के आगे से मुड़कर, डायन के टीले की ओट में बसे हुए पुरवे' तक पहुँचने का मार्ग बताया जा रहा है, तो आप सहज ही मान ले सकते हैं कि यदि आप आज के किसी अन्धविश्वास-विजडित समाज के प्रदेश में नहीं आ गये है तो निश्चय ही किसी ऐसे युग मे जा पहुँचे है जिसमें विज्ञान का स्थान अन्धश्रद्धा और धर्म का स्थान भय अर्थात् अन्धविश्वास को प्राप्त है...और 'राजा का साहसपुर' के पास 'ठाकुर फ़तेहसिंह की गढ़ी', 'सिंह पौर' और 'हाथी पोल'—ये क्या आपको वीर-सामन्त-काल मे नहीं ले जाते?

क्रमशः और इधर आइये। मदरास में आप शहर के एक भाग से दूसरे भाग मे जाते है तो जिस राजमार्ग से होते हुए जाते है उसका नाम है 'गान्धी-अरविन रोड।' गांधी मार्ग तो देश मेंअनेक हो गये, दिल्ली में 'अरविन स्टेडियम,' 'अरविन कालेज' आदि का नाम सुना है, पर 'गाधी-अरविन रोड' एक साथ केवल दो नामों को नहीं, हमारे देश की राजनैतिक प्रगति के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना को हमारे सामने ले आती है। दिल्ली का 'कारोनेशन स्क्वेयर' तो बस्ती से दूर पड़ गया और कारोनेशनों की स्मृति भी देश के स्मृतिपटल पर फीकी पड़ गयी, पर 'म्यूटिनी मेमोरियल रोड' अभी तक पुराने दर्द को जगाती हुई बनी है। और 'क्रान्ति मार्ग', 'रिपब्लिक एवेन्यू' आदि नाम भी न केवल एक ऐतिहासिक युग को, वरन् एक ऐसे संक्रान्ति काल को हमारे सामने लाते है जिसमें राजनैतिक संघर्ष ही संस्कृति का मुख्य प्रश्न था।

कभी-कभी तो इन नामों से ऐसा जान पड़ता है कि नगर-निर्माण की एक

नयी पारिभाषिक शब्दावली बन गयी है। पारिभाषिक कोशों का तो युग ही है, इसलिए इस विषय का भी एक कोश बन जाय तो अचम्भा क्या; किन्तु जिस परिभाषा की बात हम कह रहे है वह सोद्देश्य नही बनी वह 'अन्यथा सिद्ध' की श्रेणी में ही आ सकती है। उदाहरण . हर नगर या कस्बे की बीच की सड़क 'गांधी मार्ग' होती है। इस सड़क के बायी ओर वाले पथ को 'कस्तूरबा पथ' कहा जाता है, और दाहिनी ओर के पथ को 'जवाहर रोड'। 'गांधी मार्ग' पर कोई बड़ा चौक पड़े तो वह 'आजाद मैदान' कहलाता है। 'जवाहर रोड' को कोई सडक तिरछी काटती हो तो वह 'पटेल पथ'—कहलाती है, और अगर सड़क के पद के योग्य न हो तो उसे 'पटेल गली' भी कह सकते हैं; अगर एकाधिक गली तिरछी पड़ती हो तो उन्हे क्रमशः 'पटेल गली नम्बर १', 'नम्बर २', 'नम्बर ३', कहा जा सकता है। जो गली आगे जाकर बन्द हो जाती हो, जिसमे निकलकर जाने का एकमात्र मार्ग उलटे पाँव लौटने का हो, तो उसे 'टडन गली' कहते है; दिल्ली या इलाहाबाद या ऐसे प्रदेशों मे, जहाँ जीर्ण भारतीय सस्कति का स्थान नवोत्थित हिन्दुस्तानी कल्चर ले रही है, टंडन गलियों को 'कूचा टंडन' भी कहा जाता है।

विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि ऐसी परिभाषा केवल भारतवर्ष मे ही बनी है : इस दृष्टि मे भी यह देश अद्वितीय ही है। महापुरुषो की स्मृति बनाये रखने के लिए और देशो मे प्रयत्न न हुआ हो, ऐसा नही है, पर वहाँ ऐसे प्रयत्नों का समुचित साधारणीकरण नही हो पाया है। उदाहरण के लिए इंग्लिस्तान में केवल एक वाटरलू है, वह भी रेल का स्टेशन; केवल एक ट्राफलगार स्क्वेयर; अमरीका मे केवल एक वाशिंगटन, रूस मे एक लेनिनग्राड, एक स्तालिनग्राड। किन्तु आप कल्पना भी कर सकते है कि भारत मे केवल नयी दिल्ली को या वर्धा को गाधी-नगर कहकर समझ लिया जाय कि उस नाम को और भौगोलिक बन्धनों मे डालने की आवश्यकता नही है? या राष्ट्रपति भवन से इंडिया गेट (अथवा राजघाट) तक के मार्ग को (जो आज किंग्सवे यानी राजपथ कहलाता है यद्यपि राजाओं के दिन अब—आशा करनी चाहिए—सदा के लिए लद गये) गांधी मार्ग कह दिया जाय और समझ लिया जाय कि भारत के इस सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति वाले मार्ग को यह नाम दे देने के बाद एक महान् नाम का उचित सम्मान इसी मे है कि उसे हर नगर की हर सड़क पर चिपकाने का प्रयास छोड़ दिया जाय? न—गांधी हमारे थे, सबके थे, इसे साग्रह प्रमाणित करने के लिए आवश्यक है कि हमारी गली, हमारे कूचे, हमारी पटरी के साथ उनका नाम बँधा हो! आप कहेगे कि भारत भी तो हमारा भारत है; तो साहब, ऐसे तो फिर दुनिया ही हमारी है, क्या इस मर्त्यलोक को ही गांधी लोक कहने लग जाये? तो इसलिए शहर-शहर, गाँव-गाँव में गांधी मार्ग होंगे, प्रान्त-प्रान्त मे गांधी ग्राम और गांधी नगर, हर कस्बे के मुहल्ले के नाम जवाहर नगर और कमला नगर हुआ

करेंगे और हर एक में एक नेताजी पार्क या आज़ाद पार्क हुआ करेगा। हर शहर की हर म्युनिसिपैलिटी एक ही बात सोचे, अनेकता में एकता के प्राचीन भारतीय आदर्श का कितना सुन्दर निर्वाह है! और यह भी कौन कह सकता है कि 'सेठ रामकिशोर लक्ष्मीनारायण लाल हरगुलालका गली' जैसे गली से भी लम्बे नाम भी पारिभाषिक नामों से अच्छे थे, या कि 'गली कायस्थाँ' और 'मुहल्ला बिरह-मनाँ' नयी पद्धति के 'वाल्मीकि नगर' या 'रविदास स्क्वेयर' के सामने टिक सकते है? और हम काशी के धुरन्धर पंडितप्रवर से अनुरोध करेंगे कि 'अभिनव नाट्य-शास्त्र' के बाद 'अभिनव मानसार' लिखकर वह अपने नाम के आगे 'अभिनव भरत' के साथ-साथ 'अभिनव विश्वकर्मा' का विरुद भी जोड लें। भरतत्त्व को प्रमाणित करने के लिए यदि बम्बई के सिनेमा का अनुभव पर्याप्त है, तो अभिनव विश्वकर्मात्त्व के पीछे तो भारतवर्ष के समूचे स्वाधीनता-आन्दोलन का प्रमाण होगा।

किन्तु हम दिग्दर्शन-दर्शन की बात कह रहे थे, नामकरण की नहीं। कुछ बहक गये। लेकिन कोई बात नही, उलटे पाँव लौट आते है। समझ लेंगे कि कूचा टंडन मे घुस गये थे और वहाँ से बिना बेआबरू हुए ही फिर निकल आये। तो हम कह रहे थे कि हर पीढ़ी और युग मे मार्ग दर्शन की अपनी परिपाटी रही होगी, और उदाहरण देते हुए क्रमशःसमकालीन जीवन की ओर बढ़े आ रहे थे। संघर्ष कालके मार्ग-निर्देशों का तो हम मार्गो के नाम से अनुमान लगा ही सकते है। और उसके अनन्तर आज?

एक पीढ़ी भर मे कितना बड़ा परिवर्तन हो गया है, इसका प्रमाण देने के लिए कुछ कल्पना-विहीन लोग कदाचित् आँकड़ो की ओर दौड़ें, कोई बुनियादी तालीम से लेकर भाखड़ा-नगल तक के क्रिया-कलाप की दुहाई दे, किसी को कदाचित् यह भी ध्यान आ जाय कि पिछले सात वर्षो से वनमहोत्सव करते हुए जो गण्य-मान्य लोग शहरों में सब्ज़-बाग लगाने और दिखाने का भगीरथ प्रयास करते रहे, उनमें से वन में बसकर सरल जीवन बिताने की एक को भी नही सूझी यद्यपि वन-सभ्यता और ऋषियों के जीवन की चर्चा सभी ने की होगी! पर इस सबकी कोई आवश्यकता नहीं है, आप एक चौराहे पर खड़े होकर किसीसे मार्ग पूछिए और उसी के उत्तर मे युगान्तर बिजली-सा कौध जायेगा।... "वह जो बहुत बडे-बड़े दो लाल बोर्ड है न, जिस पर छः-छः फुट के अक्षरों में लिखा है 'खाज', 'खुजली'—वहाँ से बायें को मुड़ जाइये। आगे एक गोल चक्कर आयेगा, फिर एक मोड़, फिर एक तिरस्ता—वहाँ एक रास्ते के सिरे पर बहुत बड़े बोर्ड पर लिखा है 'डोंट वाक टु योर डेथ' और मोटर के नीचे गिरते एक आदमी का चित्र है। उसी सड़क पर हो लीजिये : कोई पचास क़दम आगे जाकर एक पक्की दीवार दीखेगी जिस पर चूने से लिखा है 'नामर्दी—नामर्दी—नामर्दी।' दीवार

आगे चलकर बड़े अस्पताल की दीवार से मिल जाती है—आप तुरन्त पहचान लेंगे क्योंकि वहाँ बिगुल पर × का निशान बना हुआ है और लिखा हुआ है 'साय-लेस जोन'। बस वहीं तक आपको जाना है : उस निशान के सामने ही 'सिंहनाद' नाम की रेडियो की दुकान है (बोर्ड आप न भी देखें तो उसके लाउड स्पीकरों का स्वर आप तीन फर्लांग से सुन सकते हैं रात बारह बजे तक), और सिंहनाद के साथ वाली दुकान में आपके मित्र रहते हैं। उनका बोर्ड तो लगा है, पर दिन में दीखता नहीं, रात को उसके पीछे बत्ती जलती है तो पढ़ा जा सकता है। हाँ, उन्हीं की छत के ऊपर एक बोर्ड है जिसमें बिजली की बत्तियों से लिखा हुआ है 'न्यूरोसिस'। बस आप सीधे न्यूरोसिस के बोर्ड के नीचे चले जाइये।"

मेरे मार्ग-दर्शन से निस्सन्देह आप ऊब गये होंगे। पर ऊबकर मुझे दोष न दीजिये। कुसूर मेरा नहीं, ज़माने का है। आप जमाने पर हँस लीजिये और इस प्रकार परोक्ष मुझ पर भी—आप को हँसा सकूँ तो मेरे धन्य भाग।

और आप ऊबे न हों, या हँसना न चाहें—तब ? तब भी कोई चिन्ता नहीं, तब तो मेरे मार्ग-निर्देशन की उपयोगिता स्वतःसिद्ध है—आप मेरे बताये हुए मार्ग पर ही चल रहे हैं : 'बस, सीधे न्यूरोसिस के बोर्ड के नीचे चले जाइए—वह आधुनिकता का दूसरा नाम है, और समकालीन जीवों के लिए उपयुक्त बिल्ला ! संसार के न्यूरोटिको, एक हो जाओ—तुम्हारे न्यूरोसिस के सिवा और तुम्हारा क्या कोई छीन लेगा ?

दिल्ली देखा कि आगरा ?

नयी दिल्ली में जब किसी संसद-सदस्य से दोस्ती न होने के कारण उनके आवास-भवनों में रियायती कमरा न मिल सका, और होटलों के किराये देखकर यह समझ में आ गया कि दूर-दूर के लोग क्यों सैलानी होकर (या ऑल इण्डिया रेडियो के अन्तरभाषिक कवि-सम्मेलन के कवि नहीं तो अनुवादक होकर) दिल्ली आने की अपेक्षा सरकारी कमेटी के सदस्य होकर आना ही अधिक पसन्द करते हैं, तब किसी दयालु दक्षिणी ने सुझाया कि दिल्ली में काम हो तो मेरठ या फरीदाबाद रहकर आते-जाते रहना किफायत का रास्ता हो सकता है। अपने राम न रेडियो सम्मेलन में आये थे न समिति के सदस्य थे, दिल्ली में थोड़ा काम था पर उसके साथ समय की कड़ी पाबन्दी न थी, इसलिए मेरठ से दूसरे-तीसरे मेरठ की यात्रा कुछ भयावह नहीं लगी। लोकल गाड़ियाँ तो कई हैं, देर से चलती-पहुँचती हैं तो क्या हुआ ? कभी चेन-वेन खिंच जाती है और राह में घंटों लग जाते हैं, तो दूसरी तरफ यह भी तो है कि भीड़ में अधिकतर लोग टिकट नहीं लेते या ले पाते और बेजगह गाड़ी रुक जाने से यह आराम भी हो जाता है कि उतरकर अपने रास्ते चल दिये—न किसी ने टिकट पूछा, न किसी ने दिखाया ! आखिर 'जियो और जीने दो' का आकर्षण जितना ऐसे दमघोटू सफर के मुसाफिर को होता है, उतना ही तो सबकी घृणा और अवहेलना की वर्छियों से छिदते हुए बेचारे रेलवाई टीटियों को होता होगा! हमने कहा 'टी-टियों को'—बिहार का प्रतिष्ठित 'टिकट चेकर बाबू' दिल्ली पहुँचते-न-पहुँचते टी-टी हो जाता है; क्या नाम की यह घिसाई काम की पिसाई की नाप नहीं है?

मेरठ-दिल्ली-मेरठ की रेल-यात्रा हमने किफ़ायत की लाचारी से चुनी थी, तफ़रीह के शौक से नहीं, पर दो-एक बार की कन्धा-घिसाई के बाद ही समझ में आ गया कि क्यों लोगों को इसकी लत लग जाती है : किरानी बाबू इसके लिए घर से दो घंटे पहले चल देने को तैयार हो जाते हैं, और कालेज के विद्यार्थी टिटकारियाँ लगाते हुए बाहर लटकते रहने के लिए बार-बार फेल होते जाना भी मंजूर कर लेते हैं—क्योंकि ये सुख केवल विद्यार्थी-गिरी के सुख हैं ! दक्षिण की बसों की ठेलमठेल में खड़े-खड़े दचके खाने का मजा भी हमारा अपरिचित नहीं है; पर

सच कहें, इस दिल्ली-गाज़ियाबाद-मेरठ की लोकल-यात्रा पर सौ-सौ जम्बो जेट निछावर हैं—दिल्ली से मेरठ तक पूरी यात्रा न भी हो, चाहे केवल मोतीबाग से मिन्टो ब्रिज या साहिबाबाद से सेवानगर तक ही आना मिल जाय। 'राज तिहूँ पुर को तज डारौ !'

आप नहीं मानते ? ऐसी यात्रा की एक ही घटना सुन लीजिए : बुजुर्गों के लिए बानगी ही काफ़ी है।

शाहदरा-साहिबाबाद के बीच कहीं तक पहुँचे थे; भीड़ जैसे-तैसे अंग मोड़-तोड़कर डिब्बे में अँट गई थी और सफ़र की मुसीबत के बारे में मानों एक सर्व-सम्मत धारणा बना लेने के बाद लोग आपस का बैर-भाव भुलाकर लाचारियों का मजा लेने के मूड में आ चुके थे। बातचीत चल निकली थी, हँसी-मजाक भी हो रहा था, जो बोल नहीं रहे थे वह सुनने का ही रस ले रहे थे। हम भी सुनने वालों में थे : अगर श्रव्य के कच्चे धागे के सहारे भी हम मन ही मन नाटक रचते चल रहे थे तो इसलिए नहीं कि हम भरत-मुनि को झूठा ठहरा रहे है, सिर्फ इसलिए कि जो सुन रहे थे वह इतना मज़ेदार था कि कहानी अपने-आप बनाता चल रहा था। पर हम अपना पूर्वग्रह आप पर क्यों लादें : आप स्वयं सुन लीजिए।

बात ज्योतिष से शुरू हुई थी। कुण्डली देखकर भूत-भविष्य बता देते है, वह क्या सच होता है? अब साहब सच-झूठ का क्या पता लगे है। और फिर चार बातों में एक सच निकल आवे तो सब रौब में आ जावें और तीन जो झूठ हो उन्हें याद कौन रखे...इससे हाथ देखने की बात निकली : एक मुसाफिर अपने को माहिर बता चुके थे और तुरत परीक्षा की बात बड़ी सफाई से इसलिए टाल चुके थे कि इतनी भीड़ में हाथ कोई कैसे देखे—उसके लिए तो पूरी शान्ति चाहिए और विलायत में तो बारीक रेखा देखने के लिए बिजली के कैसे-कैसे लैम्प लगे रहते है—असल में कारी लकीरें तो बारीक ही होती है, मोटी रेखा से थोड़े ही असल महत्त्व की बात पता लगती है ! "अब आयु-रेखा देखकर किसी को बता दो कि वह बीस बरस और जीवेगा या कि अगले बरस मर जायेगा तो इसके सच-झूठ का क्या पता लगे—वह तो एक बरस या बीस बरस बाद ही जाना जायेगा न ! अब कोई यह बतावे कि तुम्हारी बीवी झगड़ालू होगी या तुम्हारे बाप ने मूँगफली की चोर-बाज़ारी से पाँच हज़ार रुपया बनाया होगा, तो इसकी तो पड़ताल भी हो सके—और यह तो बारीक रेखाओं से ही पता चलता है जिन्हें पहचानने में घण्टों लग जावें—"

किसी ने कहा : "पर यह कोई मान लेगा तब न !"

"हाँ, भला अपनी भद्द कौन करवाये—"

"लेकिन रेखा से क्या ऐसी बात का भी पता लग जाता है ? तब तो यह बड़ी

विद्या है साहब !"

"अरे हाथ की रेखा तो क्या-क्या बता दे—पढ़ने वाला चाहिए ! उससे तो यह भी पता लग जावे कि कोई औरत छिनाल होगी तो उसका जार बनिये का होगा कि जाट का—"

"नही जी, ऐसा कैसे हो सकता है। जात-पात से रेखाओं को क्या मतलब, जात-पात क्या भगवान् ने थोड़े ही बनाये, वह तो हमारे समाज की ईजाद है।"

"वाह साहब वाह ! और छिनाली और जार-गीरी जैसे भगवान् ने बनाये है ! या तो यह मानिए कि हर रेखा मे हर इन्सान की हर बात का ब्यौरा लिखकर रख दिया गया है—या फिर कुछ न मानिए। यह तो बात नही बनती कि आधी बात तो पहले से तय कर दी गयी हो—और बाकी के लिए खुली छूट हो—उससे तो अन्धेर हो जायेगा।"

हाथ देखने वाले साहब ने समर्थन पाकर कहा, "यह तो है। जब अणिमा-महिमा सब एक है तो छोटी से छोटी लकीर में भी हर प्राणी की पूरी पत्र लिखी रहनी चाहिए—अब पढने वाला जितना पढ़ पावे ! अब हस्त-रेखा—"

एक भारी-सी आवाज सुनाई दी : "पामिस्ट सा'ब ठीक कहते है—मैं तो पूरा क़ायल हूँ। मेरी तो आज़मायी हुई है—"

सबकी आँखें वक्ता की ओर मुडी। उसकी वर्दी और भुजा का बिल्ला देखकर किसी ने कहा, "सुनो भई सुनो, हवालदार साहब की बात सुनो। हाँ तो हवालदार साहब, आप अपने तजम्बे की बात सुनाइये—आपने जग के दौरान कई मुल्कों की सैर की होगी।"

हवालदार ने कुछ सकुचाने का अभिनय करते हुए कहा, "नहीं, कई तो क्या—हाँ, बर्मा फ्रन्ट पै था···पर मै कह यह रहा था कि मुझे एक पामिस्ट ने जो बताया वह सारे गैर-माकूल हालत के बावजूद ऐसा सच हुआ कि हैरत होती है। भरती होने के पहले मैं पेशौर की तरफ एक छावनी में सिविलियन क्लर्क था, तब की बात है—"

मजेदार कहानी की सम्भावना से सभी उत्सुक होकर चुप हो गये थे। श्रोता मण्डली काबू में है, यह देखकर हवालदार साहब आश्वस्त होकर आपबीती सुनाने लगे। कहानी का सार यों था :

सिविलियन जिन्दगी मे वह एक छावनी के स्टोर क्लर्क थे। तनख़ाह तो क्लर्क की जो होती है सो होती है, पर छावनी का स्टोर क्लर्क होने के नाते ऊपर की अच्छी आमदनी हो जाती थी। शादी भी हो गई थी। भगवान् की दया से सब कुछ था। एक पामिस्ट ने बताया था कि चार बच्चे होंगें—लड़के, सो बीवी भी खुश थी। पर बरस गुजरने लगे और कुछ भी नहीं हुआ, फिर तीन बार औलाद हुई भी तो लड़कियाँ जो कोई भी चार दिन से ज्यादा जिन्दा नही रहीं—एक तो

पैदा होने के दो घण्टे बाद मर गयी। एक और पामिस्ट को दिखाया—उसने कहा कि लड़के होंगे, तीन तो ज़रूर, शायद चौथा भी लड़का होगा, और चारों जियेंगे··· बीवी को बताया पर उसे तसल्ली नहीं हुई। फिर एक दिन उसने कहा, "तुम जो रिश्वत लेते हो न, तभी औलाद नहीं होती—या बचती नही। मेरी बात मानो तो रिश्वत लेना बन्द कर दो—हो न हो इसी पाप के कारण यह सब होता है।" बीवी ने कसम उठवाकर छोड़ी। पर जब तौबा कर ली तो फिर उसे निवाहा भी, रिश्वत लेना उसी दिन से बंद कर दिया। पर फायदा कुछ नही हुआ। इसी बीच जंग छिड़ गयी तो भरती हो जाने में तरक्की दीखी—बावर्दी हवालदार क्लर्क हो कर तबादले पर गये और फिर वहाँ से फ्रन्ट भेज दिये गये।

हवालदार ने रुककर चारों ओर देखा। सबकी दिलचस्पी कायम थी—बल्कि बढ़ गई थी। एक कुछ पूछने ही जा रहा था कि हवालदार बोले : "आप सोचते होंगे कि पामिस्टो की बात का क्या हुआ। वही तो बताने जा रहा हूँ। जब मेरी पोस्टिंग फ्रन्ट पर हो गयी तो बीवी को बड़ा सदमा पहुँचा—आप सोच ही सकते है। जंग कितने दिन चले इसका कोई ठिकाना तो नही था; साल-दो साल में छुट्टी पर घर तो आ सकता पर तब तक के लिए तो बात टली ही! और फिर सात बरस में जो नहीं हुआ वह चार हफ्ते की छुट्टी में हो जायेगा इस पर किसी की दिलजमई कैसे हो! खैर साहब, जैसे-तैसे उसे समझा कर चले गये।"

कोई पूछ ही तो बैठा : "हवालदार साहब, वहाँ तो ऊपर की आमदनी का खूब मौका रहा होगा?"

हवालदार ने नजर से ही उसे चुप कराते हुए बताया, मौके तो बहुत थे, पर उन्होंने कसम उठा ली सो उठा ली थी। पर बात रिश्वत की नहीं पामिस्ट्री की है न! "तो साहब, वहाँ डीपो के लिए रोज रसद की डेलिवरी लेनी पड़ती थी। तरह-तरह के लोग आते थे। और वह तो सब ट्राइबल इलाका है न, वहाँ मर्द कम औरतें ही ज्यादा आती थीं माल पहुँचाने—साग-सब्ज़ी हो तो, दूध-फल हो तो, अंडा-मुर्गी हो तो; अक्सर तो चावल भी वही लाती थी। ऐसे ही—क्या बतायें, साहब, अब ऐसी जिन्दगी मे यह कोई अनहोनी बात तो है नही—वही एक औरत से आशनाई हो गयी...पहले तो कभी-कभी आना-जाना होता था, फिर कुछ ऐसा मौका बन गया कि ज्यादातर उसी के घर रहना होता था—अपने क्वार्टर में रात कभी-कभी ही गुजारनी पड़ती थी। यो देखते-देखते दो बरस कट गये फिर छुट्टी पर तीन हफ्ते घर जाना हुआ पर उससे नतीजा कुछ नही निकला। लौटकर फिर वही रवैया चालू हो गया—"

गाड़ी की चाल एकाएक धीमी हुई थी, पर थोड़ी-सी हलचल के बाद ही पता लग गया कि कोई स्टेशन आने वाला नहीं है, इसलिए सब फिर एकाग्र हो गये। हवालदार के चेहरे पर एक शरमायी-सी मुस्कराहट दौड़ गयी। फिर उसने कहा,

"साहब दो बरस और वहीं गुज़र गये। और आपको क्या बताऊँ, मेरी जिन्दगी के शायद सबसे सुख के दिन रहे वो...जिस औरत से मेरी आशनाई थी, वह शादी-शुदा थी, पर उसका खाविन्द कलकत्ते रहता था—मेरे रहते तो लौटकर नहीं आया, और मैं भला क्यों उसकी खबर पूछता! पर, साहब—और इसी को कहते है तकदीर का जोर मारना--" एक बार फिर हवालदार ने चारों ओर नज़र दौड़ायी : "उस औरत से मुझे औलाद नसीब हुई—चार बरस में तीन बच्चे—तीनों लड़के..."

हवालदार रुक गये। डिब्बे भर में थोड़ी देर चुप्पी छायी रही; फिर एकाएक तीन-चार कहकहे एक साथ सुन पड़े, और दो-तीन आवाजें भी : "वाह हवालदार साहब! आपको तो बीवी की बात खूब फली!" "और पामिस्टों की भी!" "वही तो, खुदा जब देता है, ऐसे देता है!" "है सा'ब, तकदीर भी कोई चीज!" "होनी कभी नहीं टलती!"

हाथ के इशारे से सबको रोकते हुए हवालदार बोले, "आप सबकी दुआ से अब मेरी चार औलाद है, चारों जिन्दा है। तीन का हवाला तो मैने बता ही दिया; चार के बाद घर लौटकर अपनी बीवी से चौथी पैदा की—वह भी लड़का, भगवान् की दया से वह भी ज़िन्दा है। रिश्वत मैंने फिर कभी नहीं ली।"

बधाइयों की बौछार फिर होने लगी। किसी ने बीवी की बात की दाद दी; किसी ने पामिस्ट की भविष्यवाणी की, किसी ने भाग्य के बल की, सभी ने हवालदार की खुशनसीबी की...

अब पामिस्ट ने कहा, "देखिए न, पामिस्ट्री का जोर! हो नहीं सकता कि उसकी बात गलत हो जाये—बशर्ते कि पढ़ने वाला ठीक पढ़े! था कोई इमकान कि बात सच हो—मगर होकर रही—"

किसी ने बड़ी बुजुर्गाना अदा से, दूध-पानी अलग करते हुए कहा, "और पाप-पुण्य का फल भी होता ही है—पामिस्ट्री की बात भी ठीक है, पर रिश्वत लेना बंद न करते तो क्या पता...'

अब की बार स्टेशन ही था : गाड़ी बड़े निश्चयात्मक ढंग से धीरे हो रही थी कि रुककर ही रहेगी। पर लोगों का ध्यान उखड़ने से पहले हवालदार ने स्वर और ऊँचा करके कहा : "पामिस्ट्री तो मैं मानता हूँ, पर एक बात मुझे आप साहबान में कोई बता दे--"

लोग उठने-उठने को होते भी रुक गये और एकटक हवालदार की ओर देखने लगे।

"मेरा सवाल यह है कि क्या रिश्वत लेते रहना अच्छा था, या कि दूसरे की बीवी से बच्चे पैदा करके औलाद को बचाना? क्यों पामिस्ट साहब, आप बतायें, या—" यहाँ हवालदार उन बुजुर्ग की तरफ मुखातिब हुए जिन्होंने पाप-पुण्य की

बात कही थी, "या बुज़ुर्गवार, आप फ़रमा दें—"

पर बुज़ुर्गवार को उसी स्टेशन पर उतरना था—गाज़ियाबाद में उन्हें गाड़ी बदलनी थी और कुछ दूसरे लोग भी तफ़रीहन प्लेटफार्म का एक चक्कर लगा लेना चाहते थे; इसलिए हवालदार साहब के सवाल का जवाब देना किसी ने ज़रूरी नहीं समझा। कहानी भी पूरी हो ही गई थी : वक्त अच्छा कट गया था, भले ही गाड़ी लेट हो गई थी। बल्कि इस लोकल गाड़ी को लेट क्या और टाइम क्या—लोकल का मतलब ही है स्थानीय, सो जहाँ की हुई वहीं की हो गई !

अब बताइये, होगा जम्बो जेट में सफ़र का ऐसा मजा ? रही संसद सदस्य की मेहमानदारी की, सो हम अभी वह दिन नहीं भूले जब एक जानकार दिल्लीवाल के साथ किसी सदस्य के ठाठदार फ्लैट में गये थे तो देखा था कि भीतर के बरामदे में एक भैंस पसरी हुई पगरा रही है; एम० पी० साहब स्वयं आँगन में खाट पर बैठे धूप सेंक रहे हैं ! बीन बजाना हमने सीखा नहीं था, इसलिए उल्टे पाँव लौट आये; दिल्लीवाल दोस्त कहते ही रह गये कि "अरे म्याँ, इसी चटखारे के लिए तो लोग दिल्ली आते हैं !"

पहला रिपोर्टर

सृष्टि-क्रम में पुरुष पहले था कि नारी, इस पर जब-तब बहस हुआ करती है, और इसी प्रश्न का एक रूपान्तर—कि बीज पहले हुआ या पौधा—शताब्दियों से दार्शनिक वाद-विवाद का आधार बना आया है। अन्य दार्शनिक मसलों की तरह यह मसला भी असल में कोरा सैद्धान्तिक है और जीवन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दोनों में से कौन पहले बना, इसका क्या महत्त्व है जबकि हर युग में, हर काल में, हर देश में, एक पर दूसरा हावी होता आया है? क्षमा करें, मैं व्याकरण में जरा कच्चा हूँ, इसीलिए यह लिख गया; नहीं तो शायद 'होती आयी है' लिखना चाहिए, और शायद 'दूसरा' नहीं 'दूसरी', क्योंकि हावी होने वाला, वाली ही हो सकता (यानी सकती) है। जो हो, इस प्रश्न को मैं तो कोरी हवाई बहस ही मानता हूँ। हाँ, कोई यह पूछे कि पहला पत्रकार या संवाददाता कौन था, तो जरूर सोचने की बात है, क्योंकि मेरी धारणा तो यही है कि पहला संवाददाता ही वाद की समूची ऐतिहासिक उलझनों का मूल रहा। यों तो इतने से ही कुछ अनुमान हो जाना चाहिये कि पहला संवाददाता कौन रहा होगा—और वह व्याकरण वाली समस्या यहाँ पर फिर उठती है, पहला संवाददाता कि पहली संवाददाता? क्योंकि इसमें कौन सन्देह कर सकता है कि जब ईडन के उद्यान में हौवा ने साँप के पास वह सेब देखा, और दौड़कर इसकी सूचना आदम को देने चली, तभी पहले संवाद का जन्म हुआ; और पत्रकारिता के इस पहले उद्योग का ही परिणाम देखिए कि बेचारा भोला आदम ईडन से बहिष्कृत हो गया!

"आज प्रातःकाल उद्यान के एक सुन्दर हरे-भरे कोने में एक महाकाय साँप देखा गया। कहा जाता है कि वह साँप अन्य साँपों से भिन्न है—क्योंकि यह भूमि पर रेंगने के बजाय एक पेड़ से लिपटा रहता है। हमारा विशेष प्रतिनिधि मौके पर जाकर पड़ताल कर रहा है।"

"हमारे विशेष संवाददाता द्वारा विश्वस्त रूप से पता चला है कि जिस पेड़ पर साँप गुंजलक डाले पड़ा रहता है, उसकी डाल में एक सुन्दर फल लगा हुआ है। साँप के कारण उस तक पहुँचना खतरे से खाली नहीं है। समाचार से उद्यान

में बड़ी सनसनी है।"

"शैतान के परराष्ट्र सचिवालय में जाँच करने से मालूम हुआ कि साँप द्वारा रक्षित फल ज्ञान का फल है। गुप्त सूत्र से यह भी सूचना मिली है कि इस फल पर समूचे उद्यान के निवासियों का भविष्य निर्भर है। विशेष संवाददाता द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर विभाग के एक उच्च अधिकारी ने बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से प्रश्न को टाल दिया।"

"साँप ने एक विज्ञप्ति निकाली है जिसके अनुसार...इस कथन की सत्यता की पड़ताल अभी नहीं हो सकी—"

यों तो कल्पना-चक्षु से स्पष्ट देख सकता हूँ कि किस प्रकार सनसनीदार खबरों से पहले आदमी का कौतूहल और उत्कंठा जगायी गयी होगी, और फिर —उसके भाग्य का निर्णय हो गया होगा।

यह जरूर कहा जायगा कि केवल आदम ही निर्वासित नहीं हुआ, हौआ भी तो साथ गयी। लेकिन जरा यह तो सोचिए, अगर अकेला आदम ही निर्वासित किया गया होता, तो क्या हौआ स्वयं न पीछे दौड़ जाती ?

"शरणार्थी काफिले के साथ जाते हुए हमारे विशेष संवाददाता ने सूचना दी है—"

"शरणार्थी कैम्प से। ईडन उद्यान से कुछ दूर पर आदम ने डेरा डाला है। उसकी मनोदशा अत्यन्त चिन्ताजनक बतायी जाती है। पेड़ की छाल और पत्तियाँ बाँधकर उसने अपने शरीर के कुछ भाग को ढक लिया है, और उसकी खोई हुई दशा से —" (ह० वि० सं० दा० द्वारा) एक बार जब व्यक्ति पर ह० वि० सं० दा० की छाप लग गयी, तब फिर वह रुक नहीं सकता; जैसे किसी विशेष व्यक्तित्व पर 'छाया' पड़ जाने से वह बाध्य होकर 'खेलता' ही रहता है, उसी तरह संवाददाता की छाप लग जाने पर हौवा भी ईडन में रुक न सकती, उसके बाहर की मरुभूमि में तो क्या, सीधे शैतान की नगरी भी जाना पड़ता तो भी जाती— बिना बुलाये जाती, बिना खदेड़े जाती। बल्कि वहाँ तो और भी उत्साह से, क्योंकि ज़रा सोचिए तो, वहाँ की रंगीनियों और सरगर्मियों का, और वहाँ के 'नृशंस', 'हौलनाक', 'बर्बरतापूर्ण' व्यापारों के आँखोंदेखे 'ताजा हालात' से कितनी सनसनी फैलती, और संवाददाता के लिए कितना बड़ा 'स्कूप' होता वह कि और संवाददाता ईर्ष्या से ऐंठकर रह जाते, जैसे जेठ की गर्मी में पल्लीदार काठ (प्लाईवुड) की परतें ऐंठ जाती है। एक वह गया था न कौन, ऋषिकुल का रिपोर्टर—हाँ, नचिकेता, कैसे कौशल से साक्षात् यमराज से मिल आया था— सो उसका बखान अभी तक होता है, वैसा भाग्यवान् दूसरा रिपोर्टर नहीं हुआ।

असल में संवाददाता का 'लक' भी बड़ी चीज़ है। अब देखिये न, माना कि प्रियंवदा की सूझ भी थी कि उसने कौशल से शकुन्तला को खबर दे दी कि दुष्यन्त

को बिदा करे—"चक्रवाकवधुके, आमन्त्रयस्व सहचरं, उपस्थिता रजनी।"—लेकिन सूझ की ऐसी बड़ी बात तो नहीं थी कि जिसके लिए यह वाक्य इतिहास में अमर हो जाय ? यह 'लक' ही तो है कि कालिदास की मेधा यहाँ आकर अटक गयी, और उसने प्रियंवदा के सवाद को ज्यों का त्यों अपनी पुस्तक मे स्थान दे दिया !

महाभारत में कौरवों का सैनिक संवाददाता संजय भी अपने ढंग का एक ही है। इतना जरूर है कि उसके कई बयान सन्दिग्ध जान पड़ते है—यानी आँखों-देखे तो नही ही है, वैसे भी उनका कोई पुष्ट आधार नही है और मानो अटकल से ही भिड़ा दिये गये है। अपने वर्णन की खामियाँ भरने के लिए सैनिक संवाददाता ऐसे कल्पना से काम ले तो उसे दड मिलना चाहिए, पर व्यासजी आखिर ऋषि थे—'साई लोग'—उन्होने सजय के बयानो को ज्यों-का-त्यों अपना लिया। और उनके स्टेनोग्राफर तो थे ही गोबर-गणेश, उन्होंने टोका; यह भी 'लक' ही की बात है—अब उनका लिखा आर्षवाक्यं प्रमाणं हो गया है।

चर्चिल ने अपने संस्मरणो में लिखा है कि एक सैनिक अफ़सर उनके पास कुछ संवाद लेकर आया था; चर्चिल के पास उन दिनों एक पालतू शेर था; उन्होने अपने संवाददाता से कहा, "अगर तुम्हारी बतायी हुई बातें सब सच न होंगी तो जानते हो क्या-क्या होगा ? मैं तुम्हे इस शेर को डलवा दूँगा। आजकल मांस की कमी है यह तो तुम जानते ही हो।" उस अफसर ने जाकर लोगों से कहा था कि प्रधान मंत्री को सन्निपात हो गया है। पर असल बात तो यह है कि चर्चिल तो ऋषि नही है, अतः उन्हे यह सब जाँच-पड़ताल के ढकोसले सूझ रहे थे। क्योंकि आखिर तो वह भी महायुद्ध पर एक रिपोर्ट लिख रहे थे; व्यास की भाँति महाभारत थोड़े ही रच रहे थे जो न केवल इतिहास हो वरन् उस काल की समूची संस्कृति का प्रतिबिम्ब हो जाय—समाज-जीवन का, कला और विज्ञान का, धर्म-विश्वासों और मान्यताओं का एक सर्वांगीण प्रतिचित्र ?

यूनानियों में भी महाभारत जैसा युद्ध हुआ था, पर उनके पास व्यास ऋषि कहाँ थे ? और न संजय—उनका दुर्भाग्य था कि उन्होंने भी एक स्त्री संवाददाता नियुक्त की थी जिसके संवादों पर व्यास के समस्थानीय बुढ़ऊ होमर तो क्या, स्वयं उसी समय के यूनानी भी विश्वास न करते थे। नॉसिकेया (भाषा-शास्त्री ज़रा विचार करें, यह नाम नचिकेता से कितना मिलता है)—नचिकेता, नासकेता तो प्रचलित रूप ही हैं, 'त' का 'य' हो जाना स्वाभाविक है जैसे 'सीता' से 'सिया' में हुआ है; 'अब नासकेता, नासकेया और नॉसिकेया में क्या अन्तर है ? हाँ, नॉसिकेया स्त्री थी, यह ज़रूर है; यह भी कहा जा सकता है कि इसीलिए उसका विश्वास नहीं किया गया जबकि नचिकेता ऋषि हो गये—उस समय कोई अखिल यूनानी नारी सम्मेलन नहीं था जो इस पक्षपात का विरोध करके घोषित

कर देता कि वह भी किसी पुरुष संवाददाता का विश्वास नहीं करेगा। उस काल के पक्षपात का इलाज तो अब नहीं हो सकता, पर अगर अखिल भारतीय महिला सम्मेलन में यह प्रस्ताव रखा जाय कि आज की प्रत्येक भारतीय नारी को यमपुरी भेजकर यमराज से साक्षात् करके नचिकेता का समपदत्व प्राप्त करने का अवसर दिया जाय, तो कदाचित् वह इसके लिए सरकार से सिफारिश भी करने को राजी हो जाय। और इस प्रस्ताव में खूबी यह कि नयी रोशनी की महिलाएँ तो इसका अनुमोदन करेंगी ही, क्योंकि यह तो समानाधिकार की माँग है, पुराने विचार वालों को भी आपत्ति न होनी चाहिए क्योंकि सावित्री भी तो यमलोक जाकर यम को परास्त कर आयी थी, और सावित्री आदर्श भारतीय नारी है। जो हो, हम तो इस प्रस्ताव का पूरा अनुमोदन करने के लिए तैयार है।

स्त्री संवाददाता—हमें तो इस नाम में ही आवृत्ति दोष जान पड़ता है, क्योंकि स्त्री कहने ही से केवल संवाददाता नहीं बल्कि एक उद्‌भट सवाद-प्रचारक समाचार-वितरक का बोध होता है। गाँव के किसी कुएँ पर, शहर-मुहल्ले के किसी जल-कल पर, गलियों में छज्जों पर, देख-सुन लीजिए -- संवाद का प्रचार (और सर्जन भी!) स्त्री जाति का एक प्रमुख उद्योग है! बल्कि इस उद्योग पर मानव-समाज के अन्य इतने उद्योग निर्भर करते है कि इसे भी लोहे-इस्पात और खनन उद्योगों के समकक्ष बृहद् उद्योग—हेवी इण्डस्ट्री—का गौरव मिलना चाहिए। और आधुनिकता का तकाज़ा मानते हुए इस उद्योग के उद्योगियों में ट्रेड यूनियन की भावना विकट रूप से सजग रहती है। एक स्त्री ने दूसरी स्त्री से जो संवाद सुना हो उसे आप स्कैंडल कहकर उड़ा दें, यह समूचे उद्योग का अपमान है जिसे कदापि नहीं सहा जा सकता। स्त्री द्वारा प्रचारित संवाद—वह प्रामाणिक है। उस पर ट्रेड यूनियन की मुहर है, आप जो चाहें समझते रहिए, आप बुद्धू है; जो चाहें कहते रहिए आप न्यस्त-स्वार्थों के गुर्गे हैं, आपका तर्क दूषित है!

यद्यपि यह संघ-भावना स्त्रियों तक ही सीमित है यह कहना अन्याय होगा। आजकल तो सब ओर इसका बोलबाला है। आप कुछ ही समझिए, बुद्धू है; कुछ ही कहिए, पूर्वग्रही हैं। ऐसा केवल उस सूरत में नहीं है जब आपकी राय मेरी राय से मिलती हो, या अगर न मिलती हो तो मेरे कहने पर आप तत्काल बदल लें! मुझ जैसा नारीद्वेषी यह भी कह सकता है कि यह परिस्थिति तो केवल इस बात की सूचक है कि नारी आज मुक्त है, बल्कि समाज का संचालन भी कर रही है, और स्त्री-बुद्धि ही सामाजिक बुद्धि हुई जा रही है। मेरा कहा आप न मानें, मैं बुद्धू हूँ; लेकिन आज नारीमात्र यह कहती है, यह संवाद यूनियन की ओर से प्रामाणिक रूप से प्रचारित है इसलिए आपको मानना पड़ेगा। यही सत्य है और जो ऐसा कहता है वह द्रष्टा है, क्रान्तदर्शी है, स्रष्टा है। यानी मैं भी द्रष्टा-स्रष्टा हूँ, क्योंकि मैं बुद्धू हूँ।

मैंने आरम्भ में ही कहा कि पहला संवाददाता ही बाद की समूची ऐतिहासिक उलझनों का मूल रहा। वह पहला संवाददाता कौन था—माफ़ कीजिए, कौन थी ? आदम और हौवा की परम्परा तो काफ़ी नहीं है क्योंकि बाइबल के वंशानुक्रम से हिसाब लगायें तो पहला संवाद कुल चार-छः हज़ार बरस पुराना कूता जाता है। मनु की परम्परा कुछ ज्यादा ठीक मालूम होती है। और नहीं तो इसलिए कि उसका काल-निर्धारण ज़रा मुश्किल है। यानी संवाद की पड़ताल के लिए आपके पास संवाददाता से आगे कुछ नहीं है, अर्थात् संवाददाता स्वतः प्रमाण है। मनु तो मनु थे, लिखते-लिखाते तो क्या होंगे—पहले संवाद का प्रचार इडा ने ही किया होगा। यह भी सम्भव है कि उसे इडा नाम ही इसीलिए दिया गया हो। इडा, इरा, सरस्वती के नाम है। यानी वाणी के या बात के। और सवाद क्या है—बात ही बात में सौ बातें उठ खड़ी होती है ! उस इरा को बारंबार प्रणाम। यों इरा की वन्दना आरम्भ में होनी चाहिए; लेकिन मैं अन्त में इसलिए कर रहा हूँ कि मेरी बात रह जाय !

अकेलापन

'इट इज नाट गुड द मैन शुड बी एलोन।'

—बाइबल, व्युत्पत्ति खंड, २, १८

'फार सालिट्यूड समटाइम्स इज़ बेस्ट सोसायटी,
एंड शार्ट रिटायरमेंट अर्जेज स्वीट रिटर्न।'

—जॉन मिल्टन

'एवॉएड द रीकिंग हर्ड
शन द पोल्यूटेड फ्लॉक :
लिव लाइक दैट स्टॉइक वर्ड—
द ईगल ऑफ द रॉक।'

—एलिनोर वाइली

उस दिन त्यागम्मा ने पूछा कि अकेले बैठे-बैठे क्या सोच रहे हो, तो कोई उत्तर नहीं बन पड़ा। 'कुछ नहीं' कोई उत्तर थोड़े ही है? किसी तरह जान छुड़ाकर मैं सोचने लगा कि मैं क्या सोच रहा था? लोग जब अकेले बैठकर सोचा करते है तो क्या सोचा करते है?

अजीब चीज है अकेलापन। गूंगे का गुड़। उसका रस वर्णनातीत है। क्योंकि वास्तव में अकेलापन वह तभी तक है जब तक आप उसमें डूबे हुए है, उससे अलग होकर उसको नापने-जोखने, उसका रस खींचने या उसके रस का स्वाद पहचानने का यत्न नहीं कर रहे है। वैसा करने लगें तो वह अलग अस्तित्व हो जाता है और आप दो हो जाते हैं।

छोटा था, तब बहुत सोचने की आदत थी। यह नहीं कि अब सोचना छोड़ दिया है। अब सोद्देश्य चिन्तन करता हूँ या करना चाहता हूँ, पहले चिन्तन भी देखने की तरह एक अंतहीन, उद्देश्यहीन, अनैच्छिक स्वैराचार था—बैठे हैं और सोचें आती हैं और जाती हैं, और मैं उनका हिसाब नहीं रखता कि कौन आयी और कौन गयी या क्या दे गयी। फिर किसी ने उपदेश दिया, ऐसे तो सनकी हो जाओगे, अकेले बैठकर कुछ पढ़ा करो। वैसा ही करना शुरू किया, पर मन के

घोड़ों को भागना ही हो तो अकेलेपन से क्या अन्तर पड़ता है ? क्षण ही भर बाद वे पुस्तक के वाक्यों की मिट्टी खूँदते हुए अधीर हो उठते, मैं जरा-सी ढील देता कि बस घोड़े यह गये वह गये ..बहुत दिनों तक जब यही क्रम रहा, और 'क्या पढ़ा ?' के उत्तर में जब स्वयं मिट्टी कुरेदने से बढ़कर कोई उत्तर न दे सका, तब एक शुभचिन्तक ने पूछा कि 'पुस्तक में मन नहीं लगता ?' मैंने कहा, 'लगता है;' क्योंकि पुस्तक लेकर मज़े से घंटों बैठा रह सकता हूँ तो वह मन लगना नहीं तो और क्या है ? लेकिन वह माने नहीं, उन्होंने फिर पूछा, 'मन भागता है ?' मैने स्वीकृतिसूचक मौन ग्रहण किया। मन भागने के सिवा और करता क्या है ? उन्होंने कहा, 'अच्छा, मन भागे तो कमबख्त को और भगाओ। जो विचार आये, उसे दबाने की कोशिश न करो; उसीको चिपट जाओ, अन्त तक सोच जाओ। फिर वह अपने आप लौट आवेगा।'

तरकीब अच्छी थी। मैंने देखा था, कभी-कभी जटके[1] का घोड़ा जब अड़कर किसी एक तरफ़ ही जाना चाहता है, तब चालक उसे मोड़ने की चेष्टा छोड़कर उधर ही दौड़ाता है और साथ-साथ कोड़े से पीटता जाता है; अन्त में घोड़ा सहसा धीमा पड़ जाता है और फिर चालक जिधर मोड़े चुपचाप मुड़ जाता है।

लेकिन मन के घोड़े आखिर मन के घोड़े है। यह तरकीब नहीं चली; यानी खूब चली—मैंने नही जाना कि मन कभी लौटा। यह जरूर है कि एक गलियारे से ऊबकर उसने दूसरा पकड़ा, पर अगर आप मन की बात कुछ भी जानते है तो जानते होंगे कि वह आगे निकलकर लौटता नही, और उसके गलियारे सेंहुड़ की शाखों की तरह होते है, एक में से एक निकलता ही चला जाता है।

इस प्रकार पढ़ाई के नाम पर अब भी कोरा हूँ! हाँ अकेलेपन की आदत ज़रूर इस प्रकार पड़ गई है; और पुस्तक लेकर अकेले बैठना तो और भी अच्छा लगता है! सुना है कि बालज़ाक (या कि फ्लाबेयर ?) अपनी मेज़ की दराज़ मे एक बहुत पका हुआ सेव रखते थे—पचित होते हुए सेव की गंध से उनकी 'प्रतिभा' जागती थी और वह लिखते थे। मार्क ट्वेन जेब में मेढक रखा करते थे। बायें हाथ से उसके ठंडे गिजगिजे शरीर को टटोलते हुए भी वह द्रष्टा हो जाते थे। मैं क्योंकि प्रयोगवादी नहीं हूँ इसलिए ऐसे आर्ष प्रयोगों की शरण नही लेता। मेरे लिए किताब लेकर बैठना ही किताबी दुनिया के पार एक चित्रमय यथार्थता के जगत् में पहुँच जाने के लिए काफ़ी है! जीवन के पौने दो कोड़ी उड़ाऊ वर्षों का यह मेरा संचित अनुभव है। ज्योतिषी ने बताया है कि इतना ही जीवन और है, पर उस बात की परख तो पैंतीस-छत्तीस वर्ष बाद ही हो सकती है न, उसे छोड़ें; आँकड़ेबाज़ों (राष्ट्रभाषा 'आंकिक', किन्तु राष्ट्रभाषा तो निर्व्यंग्य

---

१. दक्षिण भारत का ताँगा।

भाषा है और मैं व्यंग्य के बिना जी नहीं सकता; जब से पान में तम्बाकू लेना छोड़ा है तब से तो और भी नहीं) का कहना है—कहना क्यों, वे तो सप्रमाण घोषित करते हैं कि भारतवासी का आयु-यान छब्बीस वर्ष है : इस गणना में सवाये से अधिक जीवन जी चुका हूँ, और ड्योढ़े में थोड़ी ही कसर रह गयी है। अतः कह सकता हूँ कि यह ड्योढ़े भारतीय जीवन का अनुभव है।

एक बार एक बस मे कुछ पंजाबियों के साथ सफ़र करने का भाग्य हुआ था (मुझे भाग्य पर ही प्रत्यय है, और कोई प्रत्यय मैंने उसके साथ नही लगाया है; पजाबी भाई नाराज़ न हों, न होंगे तब भी मै उनकी पंजाबियत पर सन्देह नही करूँगा)। आप पंजाबी जानते है या नही, न जाने; मै तो नहीं जानता : पर इतना समझ गया हूँ कि हर चीज की एक मिसाल तैयार रखना पंजाबी जीनियस की विशेषता है। बल्कि शायद दृष्टान्त पहले प्रस्तुत हो, तभी उस चीज की यथार्थता स्वीकार्य होती है। तो उसी बस यात्रा मे सुना, दुनिया मे कुल अक्ल डेढ़ है। वह कैसे ? अखे एक तो अपनी, और आधी बाकी सारी दुनिया की। यह बात ठीक हो, तो अब मैं कह सकता हूँ कि आधी भी बाकी नही है, क्योकि मेरा डेढ़ जीवन का अनुभव है ! यो पंजाबी एक भी अद्वितीय है, और उनकी (बाकी आधी अक्ल वाली) दुनिया भी निराली है।

कभी-कभी किसी को पूछते सुना है, तुम्हे अकेलेपन से डर नही लगता ? मुझसे यह प्रश्न इतनी बार पूछा गया है कि कभी-कभी ऐसा अनुभव होने लगता है कि डर न लगना कोई अपराध है : अपराधी की भाँति ही उत्तर देता हूँ, 'नही तो।' कभी सोचता हूँ, पुराने जमाने मे शायद ऐसा प्रश्न कोई न पूछता हो; लेकिन नही, वैसा मानना ठीक न होगा। पुराने जमाने मे भी अकेलेपन का डर था अवश्य, पर वह और तरह का रहा होगा : अकेलेपन में लोग प्राकृतिक शक्तियों के कल्पना-मूर्त्त रूपों से डरते होंगे—पार्थिव और आन्तरिक्ष देवताओं से—और उनसे बचने के लिए अपने इष्टदेव का स्मरण करते होंगे। पर यह डर, देखा जाय तो, वास्तव में एकान्त का डर नहीं है, एकान्त केवल उस डर को प्रकट होने की सुविधा देता है। यह अकेलेपन में डर लगना है, अकेलेपन से डर लगना नहीं। वह डर कदाचित् आधुनिक जीवन की देन है। आजकल अकेलेपन में भी डर लगता है, तो पुकारने के लिए कोई इष्ट देव नहीं है क्योंकि आस्था ही उठ गयी है; और इसके अलावा अकेलेपन से भी डर लगता है जो वास्तव में एकान्त अपना साक्षात् करने का डर है। कभी-कभी लोग पूछते है कि 'अकेलेपन से डर नहीं लगता ?' तो जी होता है कह दूँ, 'नहीं, अकेलेपन से तभी डर लगता है जब भीड़ में घिर जाता हूँ'; पर फिर चुप रह जाता हूँ कि यह उत्तर पलायनवाद समझा जायगा। आजकल यों तो किसी वाद के बिना आपको कोई जीने नहीं देगा क्योंकि आप वाद से बचना चाहेंगे तो वही आपका वाद मान लिया जायगा—ठीक भी है जहाँ सब-कुछ गुलाबी

है वहाँ सफ़ेद को देखकर हर कोई उँगली उठाएगा कि 'यह कौन-सा रंग है ?' पर वादों में पलायनवाद वैसा ही समझा जाता है जैसे, कीटाणुओं में न्यूमोनिया के—यों कीटाणु हम सबमें है और उनके बिना जीवन नहीं होता, पर न्यूमोनिया...

लेकिन सोचता हूँ, क्या सचमुच यह पलायन ही है ? अगर कहूँ कि भारतीय संस्कृति की यह प्रवृत्ति रही कि व्यक्ति अकेला होकर अपने को देखे तो मुझे पलायनवादी के साथ-साथ प्रतिक्रियावादी भी कहा जायगा— अतीत की ओर पलायन करने वाला पुनरुत्थानवादी, पुरातनवादी, खूसटवादी...भारतीय संस्कृति या धर्म की प्रवृत्ति साधारणतया या मुख्यतया निवृत्ति की ओर ही रही है; क्या पाँच-सात हज़ार वर्ष की यह परम्परा केवल पलायन ही रही ? भारत ही क्यों, सभी संस्कृतियों में वह प्रवृत्ति रही, और जहाँ मुख्य नहीं रही वहाँ भी इसे श्रेष्ठ तो माना गया। तो क्या आठ-दस हज़ार वर्ष तक मानव जाति झख मारती रही, और आज सहसा उसका ज्ञान नेत्र खुल गया ? (कहते तो है कि मत्स्याहार से नेत्रों की ज्योति बढ़ती है; अगर झख मारते-मारते ही हमें ज्ञान हो गया है तो समूहवादियों को झष-केतन की पूजा करनी चाहिए और नित्य झष सेवन करना चाहिए !)

यह तो कहा जा सकता है—कहा ही जायगा—कि निवृत्ति की बातें तब ठीक थीं, तब के लिए उपयुक्त थीं, क्योंकि तब ऋषि या ब्राह्मण या वीर या चारण या भाट या सामन्त युग था; उसके बाद भी उपयुक्त तो नहीं पर स्वाभाविक थीं क्योंकि वैश्य युग या पूँजी युग में दूसरों को बरगलाने के लिए निवृत्तिमार्ग का उपदेश दिया जाता है। पर अब वे सब युग लद गए—अब श्रमयुग है—सामूहिक श्रम का युग; जिसमें श्रम कोई करे या न करे, सामूहिकता अनिवार्य है, दल बाँधना धर्म है। इस युग को आनन्दकुमार स्वामी शूद्र-युग कहते थे, और इसकी संस्कृति को शूद्र-संस्कृति। लेकिन उनका सन्दर्भ देने से यह न समझा जाय कि शूद्र-तत्त्व की अवहेलना की जा रही है। कदापि नहीं, अवहेलना की जा सकती है तो केवल संस्कृति की; क्योंकि उसके बिना भी जिया जा सकता है, और आजकल तो उसके बिना जीना ही संगठित और निरापद जीना है।

लेकिन प्रश्न यह था कि लोग अकेले बैठकर सोचा करते है तो क्या सोचा करते हैं। या कि मैं क्या सोचा करता हूँ। अब यही लीजिए : है न बिचारे अकेले-पन की मुसीबत कि उसे भी अकेला नहीं छोड़ा जा रहा है ? उस पर भी लेबल लगाया जायगा; उसे भी एक दरबे में रखा जायगा—और अकेले नहीं, अनेक वैसी चीज़ों के साथ !

मैं कह रहा था, गूँगे का गुड़। पर मैं गूँगा नहीं हूँ, अफ़सोस के साथ यह स्वीकार करना पड़ता है। और वाणी से गूँगा होता तो यह जो लिखाई-छपाई द्वारा वागिन्द्रिय का प्रस्तार और प्रक्षेपण चालू हो गया है इसके सहारे ही वाचाल

हो उठता—यह यन्त्र-प्रसार ही तो वह तीसरा डग है जिसके सहारे बौना बली की छाती पर चढ़ बैठा है ! और यह जो गुड़ भी पुराना हो गया है—थोड़ा-सा पचित भी है—थोड़ा सिर को चढ़ जाय तो क्या अचम्भा ? बल्कि एकान्त-सेवन का नशा एक बार जान लें, तो सभी गूँगे हो जाते है। और सभी को इसकी लत लग जाती है। चीनी दार्शनिक कह गया है, 'जब मैं आनन्दित होता हूँ तब चुप हो जाता हूँ।' उसके बाद गूँगा बिल्कुल नही चाहता कि अपने गुड का बखान करे—पहले भी चाहता ही था इसका कोई प्रमाण तो है नहीं; कवि-समय है कि वह बताना चाहता है लेकिन सकता नही। वह अपने गुड में मस्त है, कोई उसका स्वाद जाने या न जाने।

इसीलिए, अगर अन्त मे जाकर यही ठीक समझूँ कि 'लोग जब अकेले बैठकर सोचा करते है तब क्या सोचा करते हैं', इस प्रश्न का उत्तर व्यर्थ है और नही देना चाहिए, तो आप रुष्ट न हों ! यह भले ही कह ले कि मुझे भी पलायन का नशा लग गया, कि मै उस नशे मे धुत् हूँ। मुझे धुत् बताकर आप अपने उपशमन का प्रमाण स्वय अपने को भले ही दे दें; मुझे उसकी चिन्ता नही है। मेरे काम की बात तो वह ईरानी मनीषी हाफ़िज कह गया जिसने अपने हृदय से कहा था :

ऐ दिल, तरीके रिन्दी अज मुहतसिब बिआमूज,
मस्त अस्त व दर हकेऊ केस इन गेमाँ न दारद !

'ऐ दिल, रिन्दी का तरीका तो निषेधवादी से सीख, जो स्वयं पागल है लेकिन फिर भी सन्देह से परे है !'

देखिए, ज़रा-सी देर में क्या-क्या सोच गया। लेकिन फिर भी सोचता हूँ, लोग जब अकेले बैठकर सोचा करते है तो क्या सोचा करते है ?

गिलहरी

गिलहरी ने अपनी पीठ की धारियाँ रामजी की मदद करने जाकर उनकी उँगलियों की छाप से पायी हों या नहीं, उन धारियों से उसका फुर्तीला तनु और सुन्दर ज़रूर हो गया है, यद्यपि वह फूली-फूली, इतराती मान-भरी पूँछ न होती तो रामजी की दी हुई धारियाँ भी कहाँ तक उसके रूप को बनाये रखतीं इसमें सन्देह है।

रामजी वाली कहानी तो बहुत बचपन में पढ़ी थी। गिलहरी की फुर्ती का आकर्षण भी तभी से था, कुछ कम हुआ तो बरसों बाद जब गिलहरी का नाम 'कट्टो' सुना, और वह भी वास्तविक गिलहरी के बखान में नहीं, एक फुर्तीली लड़की पर रोपा हुआ। कट्टा पंजाबी में भैंस के बछड़े को कहते है, 'हट्टा-कट्टा' में भी उस ध्वनि का भदभद-पन ही उभरता है। लेकिन नामों को लेकर एक उलझन बरसों पहले खड़ी हुई थी, उसकी छाप अभी तक है।

कालेज में भरती होने जा रहा था। उससे पहले घर की छाया से अलग नहीं रहा था, पढ़ा बहुत था लेकिन उस पढ़ाई को जीवन के साथ—जीवन तो दूर, जीवन के पर्यवेक्षण के साथ भी—जोड़ने की ओर ध्यान नहीं गया था। रास्ते में गाड़ी बदलनी पड़ती थी, प्लेटफ़ार्म पर सामान जमाये बिस्तर पर बैठा था। कुछ दूर पर एक और लड़का टहल रहा था। ढंग एंग्लो-इंडियन, लेकिन चेहरा कुछ अतिरिक्त चौड़ा, कल्ले उभरे हुए और नाक चपटी—'एंग्लो'—को तो स्पष्ट माना जा सकता था पर 'इंडियन' उतना नही था। सहसा मेरे पास आकर बोला, "गिलहरी लेना चाहोगे—पालने के लिए?" और साथ ही जेब से एक सुन्दर ललौंही भूरी बड़ी गिलहरी उसने निकालकर मेरे सामने रख दी।

मैंने बिना धारियों की लाल गिलहरी देखी नही थी। अंग्रेज़ी पुस्तकों के रंगीन चित्रों में देखी थी ज़रूर, पर रंगीन चित्रों का क्या भरोसा, फिर उनका जिनमे झींगुरों की पीठ पर सवार होकर परियाँ उड़ती हों? उनको देखकर गिलहरी भी लीक छोड़ बैठे या लाल हो आये तो क्या अचम्भा!

उसने कहा, "अभी बच्चा है, और बड़ी होगी। इसे ड्रापर से दूध पिलाता हूँ।" और उसने दूसरी जेब से एक ड्रापर भी निकाला, जैसे ड्रापर से 'झरना-

कलमों' के आरम्भिक दिनों में उनमें स्याही भरी जाती थी, ड्रापर के आगे एक पतली-सी रबर की नली लगी हुई थी, जिसे दोनों हाथों से पकड़कर गिलहरी दूध चूसती थी।

मैंने कहा, "इतनी बड़ी —और लाल ? कहाँ से लाये ? हमारे यहाँ तो गिलहरी छोटी और धारीदार होती है—"

उसने बात काटकर कहा, "बर्मा से लाया हूँ—वहाँ से यहाँ आ गए हैं हम लोग। पर मैं पहाड़ पर जा रहा हूँ, वहाँ शायद यह मर जाय, इसलिए दे देना चाहता हूँ—मुफ्त—जो कोई पाले। है न ब्यूटी ?" फिर सहसा स्वर बदलकर बोला, "तुम्हारे देश में गिलहरी होती कहाँ है ? जिसे तुम गिलहरी कहते हो वह तो ट्री-रैट है - तरुवासी चूहा !"

उसमें गिलहरी मैंने नहीं ली, क्योंकि मुझे भी सन्देह था कि मुझसे पल जायगी—फिर कालेज के बोर्डिंग में—पर असल बात वह नहीं है। असल बात यह है कि अंग्रेजी में लाल वाली गिलहरी 'स्क्विरल', या अमरीकी 'स्क्वल' होती है, और हमारी गिलहरी केवल तरुवासी चूहा (ट्री-रैट)। और जीव-विज्ञान के श्रेणी-विभाजन में भी हमारी गिलहरी चूहों के साथ 'कुरेदने वाले जानवरों' (रोडेंट, रोडेशिया) में आती है।

अंग्रेजी कहावत ठीक ही कहते हैं—'नाम में क्या रखा है ?' और यह वैज्ञानिक नामकरण वाली बात और भी बेढब है। आलू और बैंगन, टमाटर और भटकटैया एक जाति के हैं, गुलाब और नाशपाती एक जाति के, और—शायद मसूर की दाल और सिरिस एक जाति के—क्योंकि दोनों में छीमी आती है। ह्वेल मच्छ और छछूंदर एक जाति के नहीं तो एक कोटि के अवश्य हैं, क्योंकि दोनों स्तनपायी हैं; हाँ, साहब, हम-आप भी उसी छछूंदर वाली कोटि के हैं, वैज्ञानिक प्रमाण है। एक मेरे परिचित थे, कुछ सनकी; नाम था टोगो; कविता नहीं करते थे लेकिन तबीयत शायराना थी; एक दिन बोले कि "क्या फ़र्क है, मेरा नाम टोगो है, उनका टैगोर है—" महायुद्ध का ज़माना था, मुझे एक जापानी सेनानायक का नाम याद आया, मैंने कहा, "आपका नाम टोगो है, उनका टोजो—क्यों न आप कमांडर-इन-चीफ हो जावें ?" तो मेरी गुस्ताखी पर बिगड़ गये; "तुम बड़े बदतमीज हो।" सोचता हूँ, वह ऐसा न कहकर अगर कहते, "तुम अवैज्ञानिक हो।" तो मैं क्या कहता ? जबकि शिक्षितों के बीच में बैठने के लिए मेरे पास कोई सनद नहीं है सिवाय एक सायंस की डिग्री के। एक और हमारे परिचित हैं, जिन्होंने बड़ा आग्रह करके कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ बैठकर फोटो खिंचवाया है, और अब सम्पूर्ण आश्वस्त भाव से अपने को एशिया का प्रमुख कवि मानते हैं—कोई चाहे तो दाढ़ियाँ माप ले सकता है। ठाकुर ने बाउल, भाटियाली, झूमुर आदि लोक-धुनों को अपनाकर गीत लिखे थे, सुना है उनके गीतों

की संख्या एक लाख से ऊपर है; हमारे परिचित महोदय ने तीन लाख लोक-गीतों का संग्रह किया है। कैसे का प्रश्न नहीं; यह सम-कोटित्व का एक और आधार है। सोचता हूँ, इस वैज्ञानिक समीकरण की सूचना उन्हें दे देनी चाहिए, क्योंकि वह स्वयं जो मानते हैं, उसका दावा करते समय कभी-कभी अनावश्यक कसर-नफ्सी दिखाने लगते है। जिस बात का वैज्ञानिक आधार मौजूद है, उसको कहने में झेंप कैसी ? यह मुँह और मसूर की दाल ? जी हाँ, और वह मुँह और सिरिस का फूल। तो फिर ?

कविगुरु के नाम से बंगला की बात याद आ गयी। अंग्रेजी में जो ट्री-रैट (यानी पेड़ का चूहा) है, बंगला में उसे काठ-बिडाली कहते हैं, यानी पेड़ की बिल्ली। अब लीजिए। बिल्ली कि चूहा ? अंग्रेज़ी ने तो वैज्ञानिक नामकरण की आड़ खड़ी कर ली, और बंगला ? यों स्वभावों की ओर ध्यान दिया जाय तो मै समझता हूँ, बंगला नाम देने वाले को अवैज्ञानिक होने की परवाह न होती, अरसिक या अकवि होने का अधिक डर होता; पर मुझे तो काठ-बिडाली नाम मे रसिकता भी नही दीखती। यह हो सकता है कि इतराने वालियाँ सब बिल्लियाँ होती हों, मगर रसिक-रहस्य में हमारी इतनी गहरी पैठ नहीं है कि इस दूर की कौड़ी को हम पहचान सके।

बाद में दो-एक बार गिलहरी पालने का अवसर मुझे भी हुआ। लेकिन पालने का साहस करने से पहले बहुत दिनों तक उनकी आदतों का अध्ययन किया और अगर कहूँ कि उस अध्ययन से मानव-स्वभाव के बारे में भी नयी दृष्टि मुझे मिली, तो यह न समझा जाय कि मैं भी निरे वैज्ञानिक नामकरण के सहारे कोई ढोंग रच रहा हूँ—क्योंकि गिलहरी और मानव दोनों स्तनपायी हैं।

कुछ समय जेल मे रहना पड़ा था। जेल के साथियों को आदमी नयी दृष्टि से देखता है, ठीक है; पर कुछ समय बाद मानों देख लेता है, जी भर जाता है, और तब उसकी दृष्टि नये उलझाव के लिए भटकती है। किसी ऐसी ही मनोदशा में देखा, बाहर एक नीम के पेड़ पर माँ गिलहरी और दो बच्चे थे। बच्चे शायद नये-नये सैर करने निकले थे, क्योंकि उन्हें यह दुनिया बहुत बड़ी मालूम हो रही थी, कुछ आतंककारी भी। माँ उन्हें बढ़ावा देकर पैयाँ-पैयाँ चलना सिखा रही थी। दौड़कर ऊपर कोटर तक जाती, फिर बच्चों के पास आ जाती, फिर फुर्ती दिखा-कर ऊपर जाती, मानों जता रही हो, 'यह देखो, ऐसे जाते हैं—लो, मैं तो पहुँच भी गयी—' थोड़ी देर बाद एक बच्चा फुसलाया जा सका; धीरे-धीरे, कुछ-कुछ कदम लेता हुआ, अनेक बार के प्रोत्साहन-प्रलोभन-प्रदर्शन के बाद, वह बढ़कर कोटर तक गया और फिर कोटर के अन्दर के अन्धकार में छिप गया।

एक बेटा राजा बेटा है, यह तय करके गिलहरी फिर उतरी। लेकिन दूसरा बेटा छी-छी बेटा हो या न हो, उसे चिन्ता नहीं थी। वह वहीं का वहीं, पेड़ के तने

के निचले हिस्से से चिपटा हुआ, अपलक ऊपर की ओर माँ को देख रहा था और टस से मस नहीं हो रहा था। माँ जब मनुहार-मनौवल करके ऊबने लगी, तब बिल्कुल पास आकर बदन से बदन छुआकर फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ी : "अच्छा पैयाँ-पैयाँ नहीं तो उँगली पकड़कर—" लेकिन नहीं। छी-छी—बेटा बहुत विकट छी-छी था। और इतने में क्या हुआ कि उसने चट से मुँह फेरा, और तेज़ी से नीचे की ओर दौड़ा—पेड़ से ज़मीन पर, ज़मीन पर आकर और भी तेज़ी से एक ओर को जहाँ पानी का कल था और जहाँ थोड़ी देर पहले दोनों बेटे शायद माँ के साथ टहलने गये थे। कल के नीचे जो थाला-सा बना हुआ था, छी-छी बेटा लपककर उसकी मुँडेर पर चढ़ा, और चढ़ने के उत्साह में अन्दर को जा गिरा। भीग तो गया ही, कुछ कीचड़ भी रामजी की दी हुई धारीदार ओढ़नी में लग गया। इतने में माँ भी लपकी हुई आयी, बेटे की गति देखी; बेटा यों तो बिना मदद के ही फिर मुँडेर पर चढ़ा और बाहर सूखी बलुही मिट्टी पर आ गया, पर अब माँ ने अपने जबड़े में उसकी गर्दन की चमड़ी पकड़ी और उसे खींचकर ले चली तने की ओर, पेड़ के ऊपर कोटर की ओर। "अच्छा, बदमाश, घर चल तुझे मजा चखाती हूँ।"

मेरे लिए इतना भी कम रोचक नहीं था। लेकिन इससे आगे जो देखा असल चीज वह है। कोटर तक पहुँचकर शिक्षा समाप्त हो गयी हो, सो नहीं हुआ। माँ गिलहरी ने छी-छी को फिर वैसे ही पकड़ा, अब की वह अटकने की कोशिश करता रहा मानों जानता हो कि क्या आने वाला है; पर माँ उसे खींचकर मुँडेर तक ले ही गयी। फिर उसने एक पंजे से छी-छी मियाँ की गर्दन पकड़कर उसका सिर ऊँचा उठाया, और दूसरे हाथ से दे तमाचा! फिर उसे खींचकर वापस ले गयी, और पेड़ पर आधा रास्ता चढ़ गयी; फिर दुबारा उतरकर घसीटती हुई कल की मुँडेर तक ले गयी और फिर वैसे ही दो-चार चाँटे रसीद किये। इस प्रकार कोटर तक ले जाने और मुँडेर तक लाकर पीटने की क्रिया तीन-चार बार हुई, और तब माँ-बेटा कोटर में चले गये। मैं मुग्ध देखता रहा, और उस गिलहरी माँ के गुस्से को साथ-साथ मौन शब्दों में बाँधता रहा : 'तो तू नहीं मानेगा, जायगा वहाँ? अच्छा चल, मैं ले जाती हूँ—चल, गिर कीचड़ में. मर—अब क्यों डरता है, चल न; क्या हाथ-पैर टूटे हैं? बोल, फिर आयेगा? (चाँटा) बोल, कह अब कभी नहीं आऊँगा? (चाँटे)—कह अब शरारत नहीं करूँगा, बड़ों का कहना मानूँगा (चाँटे)...'

हम लोग जानवर पालते हैं तो उन्हें इसी तरह सिखाते हैं। जिसे हम उचित कर्म मानते हैं, उसे करने पर पुरस्कार का टुक्कड़, जिसे हम अनुचित समझते हैं उसे करने पर शास्ति, इस प्रकार सुखद और दुखद परिणामों से ही पशु में सम्मत और निषिद्ध का ज्ञान जगाया जाता है। पर ज्ञान उसे नहीं कहना चाहिए। कहना

चाहिए कि उसके स्नायविक संचालन-केन्द्र पर निषिद्ध की गहरी लीकें पड़ जाती है। शिशु की शिक्षा भी इसी तरह होती है, प्रीतिकर और अप्रीतिकर परिणामों से ही उसे कर्माकर्म का बोध होता है। मनोवैज्ञानिकों का एक सम्प्रदाय यह भी कहता है कि नैतिक बोध—उचितानुचित विवेक—इससे अधिक कुछ नहीं है। लेकिन मानव का अहं इस मत को स्वीकार करना नहीं चाहता; पशु को साधा जाता है, ठीक है; शिशु भी पशुवत् होता है, अच्छा; लेकिन वयस्क मानव के लिए नीति का आधार—नैतिकता का स्रोत—इससे गहरा कुछ होना चाहिए। क्या ? न सही आत्मा; विवेक सही, बुद्धि सही; क्या जीव-विकास में पशु से मानव बनने का आभ्यन्तर प्रभाव कुछ भी नहीं है ? क्या यह दावा भी अहंकार ही है कि यह नैतिक बोध ही मानव को इतर जीवों से पृथक् करता है—कि मानव ही एकमात्र नीतिवान् प्राणी है, भले ही उसमें नैतिक विकास की पहली सीढ़ियों के अवशेष बाकी हों, और वह नीति-संचालित होने के साथ-साथ पशुवत् निरा सुख-लोभी परिणामवादी भी हो ? लेकिन यह तो मानना ही होगा कि मानव में कुछ मौलिक अन्तर है, मानव-पूर्व सब जीव अपने को ही जैविक परिस्थिति के—जल-वायु, शीतातप, देश-काल के—अनुकूल बनाते आये, मानव ने ही परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाना चाहा, क्योंकि उसने परिस्थिति के साथ अपने सम्बन्ध को समझा। वह किस शक्ति से ? केवल एक स्नायविक केन्द्र के सधे हुए आदेशों से ? रीछ और कुत्ते-बिल्ली की चमड़ी जाड़ों में लोम उगाती है, गर्मी में लोम झर जाते हैं। मानव जाड़ों में ऊनी कपड़ा पहनता है, घर में कम्बल ओढ़कर सोता है, आग तापता है। क्या यह मन की शक्तियों के किसी मौलिक भेद का सूचक नहीं ? तीन-चार-पाँच की गिनती शायद कुछ पशु भी समझते हों—हिसाबी कुत्तों और घोड़ों को लेकर बहुत बहस होती है—पर तीन बन्दरों और तीन किताबों में जो त्रयत्व का सम्बन्ध है, उस सूक्ष्म गुण को पहचानने की शक्ति मानव की है। गुणी से गुण की उद्भावना करने की, युक्ति की, तर्क की, कार्य-कारण-परम्परा को समझकर, कार्य का कार्यत्व और कारण का कारणत्व पहचानने की, और सम्बन्ध का सम्बन्धत्व देखने की क्षमता मानवीय बुद्धि की विशेषता है। और मानव बुद्धिमान है इसीलिए वह नैतिक है, नीति का स्रोत हमें निरे सुखवाद में खोजना पड़े यह आवश्यक नहीं, मानव की बुद्धि ही उसकी नैतिकता की प्रतिज्ञा है।

लेकिन बात गिलहरी की थी। और यहाँ वाद-विवाद में फँस गये हैं इसलिए दुहरा लें कि हमारी गिलहरी की, उसे और कोई चाहे जो कहता हो। मैं कहने जा रहा था कि मेरी गिलहरी की, लेकिन मेरी तो हमारी से भी विशिष्ट है। मेरी गिलहरी तो वह हुई जिसे मैंने पाला था। और वह जब ऐसी एकान्त विशिष्ट है, तब उसकी बात शायद अलग कभी करनी चाहिए। गिलहरी, यानी हमारी

गिलहरी, भारतीय गिलहरी, या कह लीजिए कि रामजी की गिलहरी, क्योंकि विलायती लाल गिलहरी पर रामजी ने हाथ फेरा होता तो क्या उस पर धारियाँ न होतीं ?

जिससे परिणाम निकलता है कि रामजी भारतवासी थे और भारत पुण्य-भूमि है, नहीं तो विलायत में सादी लाल गिलहरी और यहाँ धारीदार क्यों होती ? और देख लीजिए, वह मानव के युक्तिवाद का एक और नमूना है—मेरा इस युक्ति पर विशेष आग्रह नहीं, लेकिन आज देश में ऐसे दलीलबाज़ कम नहीं हैं। उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ, और प्रार्थना करता हूँ कि रामजी कभी उनकी पीठ पर भी हाथ फेर दें—लेकिन फेरें ज़रा करारा हाथ, कि रंगीन धारियाँ नहीं, लासें उभर आयें !

पनीर का टुकड़ा

यह जो सामने एक टुकड़ा पनीर का पड़ा है, यह मेरे पिछले ब्यालू की स्मृति है; आलस्यवश मैंने इसे उठाकर नहीं रख दिया है। 'ब्यालू' से अब रात के भोजन का बोध हो सकता है; पर मैं उसे उसके शुद्ध अर्थ में ही ले रहा हूँ—वैकालिक, अर्थात् अबेर का भोजन; तीसरे पहर और दिन-छिपे के बीच कहीं भी उसकी स्थिति हो सकती है। मैंने भी लगभग पाँच बजे वह किया था; आजकल के अंग्रेजी-लदे ज़माने में वह चाय का वक्त है और इसलिए मेरा यह भोजन केवल चाय हो जाएगा, पर चाय में एक हल्कापन है और भोजन में एक गरिमा, फिर वह भोजन चाहे पनीर, बिस्कुट और बिना दूध-चीनी की चाय का ही क्यों न रहा हो। और वह गरिमा मैं इस पिछले भोजन के लिए अवश्य चाहता हूँ—यों साधारणतया मेरे भोजन को कोई गरिमायुक्त न समझे तो मुझे प्रसन्न ही होना चाहिए। भारत-भूमि भोजन-भट्टों की भूमि है, हमारे दक्षिण में थाली की बजाय पत्तल ही चलता है। इसलिए स्थालीवीर भट की बजाय हमारे यहाँ पत्तल-पटु भोजन-भट्ट होते है, पर मैं भोजन-भीरु ही हूँ और इस अर्थ मे आप कह सकते है कि भारतीय परम्परा मे मैं स्खलित हो चुका हूँ—मुझसे उसका निर्वाह नहीं हो सकता।

पर वह गरिमा फिर मैं इस एक भोजन के लिए क्यों चाहता हूँ? चाहता क्या हूँ, मैंने अपने मन में उसे वह दे दी है। हम अपने मनोभावों का आरोप निरन्तर दूसरों पर करते रहते है और विचित्र बात यह है कि जड़ वस्तुओं पर, घटनाओं पर, ऐसा रागात्मक अवलेप चढा देते हैं जिसका वास्तव में उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। अब भोजन ही लीजिए। भोजन हम-आप नित्य ही करते हैं—भारतवासी जनश्रुति से तो एक वक्त खाता है, पर वास्तव में, वक्त-बेवक्त चरता रहता है—प्रकृति के इतना निकट है जो! गो-भक्त है जो!—अंग्रेज़ पाँच वक्त खाता है; जो क्रिया प्रतिदिन इतनी बार की जाय उसका रागात्मक मूल्य तो हो ही क्या सकता है? फिर भी ऐसा होता है कि किसी एक विशेष भोजन के साथ—हम अनन्तर पाते है—हमारा ऐसा लगाव हो जाता है कि उसकी याद से एक मधुर रस हमें मिलता है—भले ही उसमें हल्की-सी टीस भी हो। यह क्यों? इसी

लिए कि वास्तव में हम उस भोजन को नहीं, उसके आनुषंगिकों को याद कर रहे है, जिनके साथ हमारा लगाव है—उस विशेष स्थिति को, उससे पहले या तुरन्त पीछे होने वाली किसी घटना को, भोजन में साथ बैठने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों को—और उनसे गुँथा हुआ अपना राग-सूत्र भोजन के साथ जोड देते है।

यही बात मेरे साथ भी है, मैं जानता हूँ। भोजन की क्रिया केवल एक पद्धति थी; जिस तरह विवाह का गौरव उसकी पद्धति मे नही, वर-वधू के राग मे ही है, उसी तरह पनीर-बिस्कुट-चाय एक पद्धति के अंग थे; और वह पद्धति उस भोजन की थी, जो मूक विदा के तनाव को दूर करने के लिए उसका स्थान ले लेता है। "साथ बैठकर भोजन कर लें, उसके बाद उठकर अपनी-अपनी राह पकडेंगे,"—इस मूक समझौते के साथ वह चाय पी गई थी, यही उसका रहस्य है। और वह विदा पराजय नही थी, समापन नही थी; उसमे विच्छेद की टीस तो थी पर अतिम भेट का आप्लवनकारी दर्द नही था। इसीलिए मै उसके लिए भोजन की गरिमा भी चाहता हूँ, और यह भी नही चाहता कि मेरे लिए भोजन और गरिमा का कोई अनिवार्य सम्बन्ध है, ऐसा आप मान ले।

अद्भुत बात यह है कि अग्रेज, जिसने भोजन को सबसे अधिक यान्त्रिक क्रिया बना दिया है, उसके साथ सबसे अधिक रागात्मक सम्बन्ध भी जोडा करता है। पाँच वक्त भोजन में पाँच वक्त नमाज की-सी ध्वनि है; और अग्रेज आहार को आचार का अंग मानता भी है। घटी बजाकर वह खाना खाने बैठता है—जिस तरह सधे हुए पशु की पूंछ सीटी सुनकर हिलने लगती है, या कि जूठे बरतनो की खडकन से उसकी लार बहने लगती है क्योंकि उस ध्वनि के साथ उसे भोजन मिलने की संभावना जुड़ी हुई है और लार उस अशनोत्कण्ठा की सहज प्रक्रिया है, उसी प्रकार अंग्रेज की भूख का सम्बन्ध घटी की ध्वनि से हो जाता है, पेट की माँग से नही; रसना भीतरी प्रमाणो से नही, बाहरी प्रमाणो से अनुशासित होने लगती है। अंग्रेज के साथ यात्रा कर रहे हों तो कभी उससे पूछिए : "अमुक स्थान पर कब तक पहुँचेगे ?" तो वह शायद घड़ी भी देख लेगा और फिर कहेगा, "लंच के लिए हम वहाँ होगे,"—या कि "चाय तक पहुँच जायेगे।" घडी देखकर भी वह यह नहीं कहेगा कि एक बजे या चार बजे या पाँच बजे; और इस बात की ओर तो उसका ध्यान भी नही जायगा कि आपका लंच या चाय का समय उसके समय से भिन्न हो सकता है। उसके लिए लच-चाय-डिनर राष्ट्रीय संस्थाएँ है; जिस तरह यूनियन जैक यूनियन जैक है, उसके रंगों और रेखाओ के विधान मे कोई अन्तर हो ही नहीं सकता, उसी तरह भोजन का समय भी निश्चित है, कपाल के लेख की तरह उसे मिटाने-बदलने का कोई सवाल नही है। और हिन्दुस्तान मे कलेवे का समय उस समय से लगकर जब अंग्रेज 'पलंग-चा' लेता है, दो-अढ़ाई बजे तक चलता है—और यहाँ अढ़ाई कहें तो तीन-साढ़े तीन तो खीच ही ले जा सकते है; फिर

चाय का समय तीन से साढ़े सात तक कभी भी हो सकता है; और ब्यालू जैनियों के पाँच बजे से लेकर बंगालियों के ग्यारह बजे तक मज़े में चलता है और जहाँ तक घर से बाहर के, सामाजिक कोटि के भोजन की बात है, बारह बज जाना भी मामूली बात है, अंग्रेज कहता है कि हिन्दुस्तानी को समय का कोई बोध नहीं है—'इडियन टाइम' एक स्थायी मज़ाक है जिसे नयी पौध के हिन्दुस्तानी भी अपना रहे है—पर हो कैसे, और क्यो ? हिन्दुस्तानी का जीवन पाँच भोजनों से शासित नहीं है; उसके लिए दिल्ली के पुराने किले और आगरे के ताजमहल के बीच की दूरी ब्रेकफास्ट और लंच की दूरी नही; पाडवो की द्रौपदी और शाहजहाँ की मुमताज-महल की दूरी है, यानी एक कालातीत, देश-निरपेक्ष, गुणात्मक दूरी, जिसे मोटर से या घड़ी से पार नही किया जा सकता, एक मानसिक यात्रा ही इस अन्तराल के आर-पार सेतु बाँध सकती है :

तोमार-आमार एइ विरहेर अन्तराले
कत आर सेतु बांधि सुरे-सुरे ताले-ताले ?

विरह के अन्तराल के पार सुरताल के सेतु ही पहुँचा सकते हे, असख्य ब्रेक-फ़ास्ट-डिनरों का भी अनुक्रम नही—वह माप दूसरी है, दूसरे जीवन की है...।

बहक गया। पर खाने और बहकने का सम्बन्ध है। अफीम की पिनक होती है, भोजन की बहक होती है। नही तो 'आफ्टर-डिनर स्पीच' का मुहावरा कैसे चल पड़ता ? कहने यह जा रहा था कि भोजनों की माप से जीवन को वैसे ही मापने वाला अंग्रेज़, जैसे दंड-प्रणामों से तीर्थस्थल की दूरी को मापने वाले यात्री होते हैं, भोजन को अत्यधिक रागात्मक महत्त्व देता रहता है, यह अद्‌भुत बात है। अंग्रेज़ी साहित्य इसके उदाहरणों से भरा पड़ा है, और मानसिक तनावों का वर्णन करने के लिए बहुधा भोजनों की शरण ली जाती है। एना कैवान की कुछ कहानियों में तो भोजन के बाद की जूठन, खाली प्याले और जूठी प्लेटो के वर्णन के सहारे ही तीव्र मानसिक उद्वेलन का वर्णन किया गया है—एक स्त्री इन बर्तनों को देखती है और उनके निमित्त से उस व्यक्ति को याद करती है जिसके साथ वह भोजन बँटाया गया था; वह भोजन एक प्रतीक है उन सब अकथ्य गहन अनुभूतियों का जो उस व्यक्ति के साथ बँटाई गई थी...हमारे साहित्यो मे ऐसा कम है। संस्कृत मे तो कभी नही देखा—संस्कृत जानने वाला तो नही हूँ पर ललित साहित्य बहुत-सा पढ़ा ही है। नायिकाओं के इतने सूक्ष्म भेद करके उनकी तालिकाएं बना देने वाले आचार्य अगर भोजन को इतना महत्त्व देते तो क्या एक-आध वैसी नायिका भी कहीं न आती ? जहाँ इतनी वासकसज्जाएं है, वहाँ एक-आध पाकरता तो होती ? लेकिन खाने-खिलाने के प्रसंग मे कोई नायिका संस्कृत-साहित्य मे नही मिलती—पूरी-पराठे-मोहनभोग सस्कृत के प्रणय-प्रसंगो में नही आते, कोई मल्ल-पुपसम्पुटा तो क्या, ताम्बूलहस्ता भी वहाँ नही मिलती। आधुनिक साहित्यों में

भी कोई विशेष प्रगति नहीं नज़र आती; हाँ हल्के सामाजिक जीवन के वर्णनों में कहवाघरों और चाय-कटलेट वगैरह की बातें इधर होने लगी है। इधर दक्षिण में तो हो ही क्या सकता है—इडली जैसी थुलथुल चीज की रागात्मक सम्भावनाएँ ही क्या है?—हाँ, अचार-चटनी जरूर इधर भी बड़ी तेज-तर्रार होती है और उसका प्रतीकात्मक उपयोग शायद हो सकता है। पर दूसरे साहित्यों मे भी अधिक नहीं है। हाँ, बँगला मे है। वहाँ खिलाने-पिलाने मे प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, और खाने-पीने वाले नायक होते है। लेकिन वहाँ की मिठाइयाँ भी तो रसीली होती है?—या कि उनके रसीले होने का रहस्य ही यह है? और उन मिठाइयों के नाम भी क्या-क्या रसीले और रागोत्तेजक होते है! 'सन्देश' : बंगला नायिका दूती के हाथ मिठाई के पांच टुकड़े भेजे तो कौन नायक इस सन्देश-माधुर्य से अभिभूत हुए बिना रह सकेगा। और सन्देशो मे एक विशेष मधुर मलाई का सन्देश होता है जिसे 'प्राणहरा सन्देश' कहते है—"मैं बलिहारी जाऊँ, कुरबान जाऊं तेरे सदेश पर।" 'लवंगलता' : क्या जिस सरस वसन्त मे हरि विहरते थे, उसका मलय-समीर इसी लवंगलता के परिशीलन से कोमल नही था? और इस 'मिष्टि' का आकार भी ठीक मुहरबन्द मोटे लिफ़ाफे-सा होता है, मानो नायिका ने ढाई अक्षर की पाती की बजाय लम्बा खर्रा लिख भेजा हो! हरि के बारे में ऐसी बात कहना कदाचित् गुस्ताखी हो; पर जयदेव लवंगलता के सौरभ से परिचित थे, यह मान लेने के लिए हमें रिसर्च का सहारा आवश्यक नही जान पड़ता। कहाँ तक कहा जाय; कम लिखी बहुत जानना। नयी मिठाइयों के नाम संस्कृत परिपाटी से नही है; अब वे स्वय सुन्दरियों के नाम होते जा रहे है: लेडी कैनिंग, लेडी हैमिल्टन कदाचित् इसलिए कि मिठाइया अब सन्देश या दूतियाँ न रहकर स्वय नायिकाएँ हो गयी है—और नयी नायिका इतनी चटक रंगीली है कि फिरंगिन ही हो सकती है। सारांश यह कि भारत मे बंगाल मे ही भोजन के साथ रागात्मक लगाव पाया जाता है, और कही कम। वहाँ एक कहानी भी प्रचलित है जिसमे 'शय्याविलासी' और 'भोजनविलासी' नाम के दो पात्र है—और दोनों समकक्ष है। बाकी देश मे शय्याविलासी को तो सब पहचान लेगे—वह तो विश्वजन है!—पर भोजनविलासी कुछ थोड़ा-सा गैर ही रहेगा।

हिन्दी भी इस मामले मे शायद कोरी है—यद्यपि हिन्दी के बारे मे मेरा कुछ कहना अनाधिकार चेष्टा ही है। श्री जैनेन्द्रकुमार की कहानियो-उपन्यासों मे तो खिलाना प्रेम-निवेदन का रूप है। यह प्रतीकाभिव्यक्ति बार-बार उनकी रचनाओं में पायीजाती है: बंगला में शरच्चन्द्र मे भी ऐसा ही है। बल्कि जैनेन्द्रकुमार कहीं-कही अति कर जाते है और नायिका पूरी-पकवान खिलाती ही रह जाती है। जैनेन्द्रकुमार को जो कोई हिन्दी का शरच्चन्द्र कहते है, उसमे यह भी एक दलील है, या हो सकती है। शरच्चन्द्र की तरह वह भी अपने स्त्री-पात्रों को अपना विशेष स्नेह

देते है और तोड़ते-मरोड़ते भी हैं; इतना ही नहीं, मानते है कि नारी सदा पुरुष द्वारा तोड़ी-मरोड़ी जाती रही है और तोड़ी-मरोड़ी जायेगी : ध्वनि लें तो कह सकते है कि उनके अनुसार नारी तोड़ी-मरोड़ी जाने के लिए ही बनी है। फिर भी वह हेय नहीं है, उसमें इतनी बड़ी करुणा है कि उसे छोटा नही होने देती और एक अभिमान है जो झुककर कुचला नहीं जाता--पर है यह सब उस चौखटे के अन्दर ही जिसमे पुरुष के अतिचार ने उसे बाँध रखा है। शरच्चन्द्र के बारे मे तो नही कह सकते—उनकी नारी तो प्रकृति की सतत-प्रवाहिनी करुणा है—पर जैनेन्द्रकुमार की नारी प्रकृति की करुणा नहीं, माँ की ही करुणा हे। वह नायिका होकर भी माँ या भाभी है। यूरोपीय साहित्य मे स्त्री जिस प्रकार वाछित और सम्भाव्य प्रेयसी है, जैनेन्द्रकुमार में उसके सर्वथा प्रतिकूल वह सबसे पहले 'दूसरे की पत्नी' है। सिद्धान्ततः इससे अर्थ यह निकलना चाहिए कि वह परायी चीज के रूप मे सम्मान्य है, और उसमें से जो मिले वह विधि की देन है; पर व्यवहार मे परायी चीज़ पर भी वासना की दृष्टि जाती ही है, वाछित वह होती ही है। और इसी लिए जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों मे ऐसा दुहरा भाव बराबर रहता है : माँ या मातृ-स्थानीया कुछ-कुछ प्रेयसी भी है, और पत्नी कुछ-कुछ वत्सला भी।

मेरा पनीर का टुकड़ा उतना बड़ा कुछ नही है। भाषा की तरह वह एक सार्वजनिक प्रतीक नही है; प्रतीक-रूप से वह एक निजी प्रतीक ही है और एक निजी अर्थ की ओर ही सकेत करता है। लेकिन, मेरे लिए, उस अर्थ के निजीपन में ही उसकी गरिमा है। उसी के नाते मै उसे एक ब्यालू की स्मृति मानता हूँ—एक सम्पूर्णता का, निष्पत्ति का, परितृप्ति का अवशेष—जो बाद की घिरती साँझ मे और भी अर्थपूर्ण हो उठा है। नही तो वह उससे अधिक कुछ नही है जो वह आपके लिए हो सकता है—एक पनीर का टुकडा। बल्कि सच कहूँ तो आपके वैसा मानने मे ही मेरा सुभीता है : उससे मेरे निजी प्रतीक की और इसलिए मेरी आभ्यन्तरिक रागात्मक स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा होती है, और आपकी वैसी ही स्वतन्त्र सत्ता में हस्तक्षेप करने की मुझे इच्छा ही क्यों होने लगी ?

पीपल

मेरी खिड़की के बाहर जो पीपल है, वह मुझे पूरा नहीं दीखता, खाट पर लेटे-लेटे मैं उसकी केवल दो शाखाएं देख सकता हूं। उठकर खिड़की तक जाऊं, तो पीपल पूरा दीख जायगा, यह मैं जानता हूँ। कौतूहल की मुझमें कमी हो, या कुछ जानने के अवसर की मैं उपेक्षा करता होऊं, ऐसी बात नहीं है; पर जब निश्चयपूर्वक जानता हूं कि कभी भी उठकर खिड़की तक जाकर मैं वृक्ष पूरा देख सकता हूं, तब जल्दी क्या है, और लेटे रहने का जो सुख मेरी शिरा-शिरा में व्याप्त है उसे क्यों छोड़ दूं ?

एक शाखा पर दो सतभैये बैठे हैं। बैठे हैं कहना इन पक्षियों के बारे में ठीक नहीं क्योंकि वह बैठे रहते नहीं, कहते-कहते तिरछी चाल से उचकते बढ़े चलते हैं। पर बिलकुल नहीं मालूम होता कि इनके यहां बैठने का, या उचकने या आगे बढ़ने का, कोई उद्देश्य है, कि इन्हें कोई लाभ है, किसी चीज़ की खोज है—पकी पीपली की भी नहीं, आराम की भी नहीं। बिना वजह उचकना और लपक-झपक, और हर वक्त की चें-चें। हिन्दी के 'री-री ची-ची' में कुछ रुलाई का भास है, और 'चिल्ल-पों' भी उपयुक्त नहीं है; बंगला का 'चेंचामेची' जरूर कुछ सतभैयों के पद-गौरव या रव-गौरव के निकट पहुंचता है। वैसे तो नाम भी क्या खूब है—एक अकेला पाखी, नाम सतभैया। 'एक खालसा सवा लाख' तो सुना है, मगर किसी चिड़िया का ऐसा बहुवाचक नाम नहीं सुना। बंगला का 'सात भाई चम्पा' भी अच्छा है। मुझ जैसा तुक्केबाज भाषा-खोजी यह भी भिड़ा दे सकता है कि सात भाइयों में चम्पा अकेली बहिन है, तभी इतना शोर मच रहा है—या कि क्या अकेली चम्पा ने ही सातों भाइयों को दबा लिया है ? क्योंकि भाई तो सात होकर भी चुपचाप पगत लगाये बैठे रह सकते हैं, मगर चम्पा – उहुँक् ! चम्पा नहीं चुप रहने की। शायद इसीलिए कहीं इस चिड़िया को सतबहिनी भी कहते हैं; यह ठीक बात है; चम्पा, चमेली, रंगिया, मंगिया, केसरी—लेकिन हमें तो सात नाम भी ठीक नहीं सूझने के ! ज़रूरत ही क्या है, सतबहिनी काफ़ी है। मुझे याद आता है, मेरे पास एक बार एक पहाड़िया नौकर कुछ दिन रहा था; बारह-चौदह बरस का छोकरा, जब भी सतभैयों को चिल्लाते देखता तो ज़ोर से कहता, 'ऑल

इंडिया वीमेन कानफरेंस !' बहुत दिनों तक उसकी सूझ और परख का कायल रहा; यह बहुत बाद में मालूम हुआ कि वह स्वयं इस बात का अर्थ नहीं जानता, मेरे पास आने से पहले जिनके यहाँ नौकर रहा था वह कान्फ़रेंस का कुछ कार्य कर रहे थे, और अंग्रेज़ी के ये शब्द उसे कुछ ऐसे अद्‌भुत लगे थे कि उसने रट लिये थे, जब भी स्फूर्ति होती तभी चिल्ला उठता—और सतभैयों का चिल्लाना पहाड़ी छोकरे के लिए स्फूर्तिप्रद होगा ही...

दूसरी शाखा पर, सहसा कभी थोड़ी देर के लिए, एक बुलबुल आ बैठती है। हमने तो कभी देखा नहीं कि बुलबुल गुलाब की झाड़ी पर बैठे, या कि गुलाब के काँटे पर बैठकर उसे अपने दिल में चुभाकर विरह में प्राण दे दे। बुलबुल का सीना लाल होता तो भी इस कवि-समय को समझ लेते, लेकिन बुलबुल के तन का जो लाल हिस्सा होता है, वहाँ दिल तो नहीं होता...यह जरूर है कि हमारे देश में जो बुलबुल पायी जाती है, वह दूसरी जाति की है, ईरानी बुलबुल दूसरी; और यह कवि-समय ईरानी है। यों ईरानी या देशी बुलबुल का दिल दुम में ही होता तो भी हमें क्या आपत्ति होती; आखिर प्रेम का दिल से सम्बन्ध होना भी तो कवि-समय है; वैज्ञानिक दृष्टि से तो दिल से दुम का महत्त्व अधिक है। सभी जानते हैं कि सुन्दर रँगीली दुम प्रेम के आकर्षण का साधन है; और पक्षी जगत् के छैल-चिकनिये जब भी इठलाते-इतराते हैं तो उनकी रंगीन दुम का उनकी क्रीड़ा में विशेष स्थान होता है। मोरों का नाचना तो प्रसिद्ध है, मुनालों का प्रेम-नृत्य जिन्होंने देखा है वह भी साक्षी होंगे...और कहने को कहते हैं कि प्रेम से हृदय (या आत्मा—बड़े आदमियों की बड़ी बातें !) आलोकित होता है, वह तो देखा-सुना नहीं, लेकिन जुगनू के अधोभाग की चमक के गवाह तो सभी हैं :

जुगनू मियां की दुम जो चमकती है रात को
तो लोग देख-देख बजाते हैं तालियाँ !

कोई ऐसा दिलवाला आवे सामने तो मानें, जिसका दिल जुगनू की पूँछ की तरह एक बार भी तो चमक जाय ! यों लारेंस ने अनार पर एक कविता में पक-कर फटे हुए अनार की शोभा का वर्णन करते हुए लिखा है, "दिल तो फटा हुआ ही अच्छा है, जिसके भीतर से कैलीडोस्कोप जैसी रंगीनियाँ झलकें," लेकिन यह भी तो कवि की ही बात है न! कवि तो कहते हैं कि बुलबुल गुलाब पर मरती है; लेकिन मैं तो देखता हूँ कि वह बार-बार पीपल की डाल पर आकर बैठती है, एक पकी लाल पीपली छाँटकर उसमें एक बार इधर से, एक बार उधर से चोंच मारती है, फिर ज़रा परे हटकर बड़ी नज़ाकत से अपनी चोंच को डाल पर पोंछ लेती है; फिर कलगी ज़रा उभारकर इधर-उधर देख लेती है, और उड़ जाती है। लजीली लड़की खाती है, तो ठीक ऐसे ही एक ग्रास लेकर कनखियों से देख लेती है कि कोई देख तो नहीं रहा ? यह नहीं कि खाना चोरी है, मगर यह भी एक कवि-

समय है कि लड़कियाँ कुछ खाती-वाती नहीं, और सुन्दरी स्त्रियाँ तो खाना उँगलियों से छू दे सो बहुत; और स्त्रियाँ कवि-समय की रक्षा न करेंगी तो कवि बेचारे कहाँ जायेंगे ? इंगलैंड में विक्टोरिया के युग में स्त्रियाँ इसी कवि-समय के मारे रसोई में छिपकर भरपेट खा लेती थीं और फिर समाज में आकर थकी उँगलियों से चिड़ी-ग्रास उठाकर मुरझाये मुँह तक ऐसी अदा से ले जाती थी, कि देखने वालों का दिल मुँह को आ जाय—किसी गोपन व्यथा से आक्रान्ता किसी सूक्ष्म जगत् की यह कोमल पुतली खाने जैसी स्थूल क्रिया से टूट न जाय !

कोई यही मानना चाहे कि बुलबुल भी जब पीपली खाकर उड़कर जाती है, तो गुलाब के काँटे पर अपना सीना रखकर दर्द से कराहने के लिए ही, तो हम उसे मान लेने देंगे—हमें क्या ? हमें तो बुलबुल के बोल अच्छे लगते हैं, कराहने जैसे नहीं, इतराने जैसे। कोई यही कहे कि हाँ, यही तो बुलबुल के आत्म-दहन की खूबी है, मर जाय परगाती हुई, तो यह भी सही। गोपन व्यथा जिसके लिए गोपन रखी जाय, उसीका उसे देखना ठीक है, बाकी जगत् का उधर कौतूहल अशोभन है, और उसे वह गान ही स्वीकार कर लेना चाहिए, जो व्यथा को उसकी आँखों से बचाने के लिए, एक भुलावे-सा उसके आगे डाला जाता है। जब तक कोई गली में भीख माँगकर खुले बाजार में डकार लेता फिरता है, तब तक डकार ही सुननी चाहिए, पड़ताल के लिए गली में जाना अनावश्यक है। जिस दिन गली में भीख न मिलेगी उस दिन बाजार में डकार भी न होगी—तब जरूर सोच करना उचित होगा...

तो बुलबुल का गान मुझे अच्छा लगता है। लेकिन पीपल का पेड़—विशेष नहीं। पत्ती और पक्की पीपली तोड़ लें, तो—शायद रगों के सवाद के कारण—आँखों को भली लगती है, मगर पेड़ नहीं। यों अश्वत्थ पंच-वटों में से एक है, पूज्य है। आदमी स्थान-कुस्थान देखकर बैठता है, न देखे तो मूर्ख कहा जाता है और गर्दनिया देकर निकाला भी जा सकता है। पीपल महाराज कहीं जमें, देवता हैं, आप देखते रह जाइए, कुछ कर नहीं सकते ! कभी सोचता हूँ, यह देवत्व का मामला भी अजीब है। बुद्धि की पकड़ में आने वाले किसी तत्त्व से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। सुन्दर है, उपयोगी है, विशाल है, चिरायु है—इन सब बातों से देवत्व का कोई सम्बन्ध नहीं। देवता सब अमर कहलाते हैं, लेकिन अमरत्व से ही देवत्व हो, ऐसा भी नहीं है, कम से कम वनस्पति-जगत् में तो नहीं। और वट-पीपल की बात तो और भी अद्भुत है। वट तो खैर कुछ अनोखा है, उसकी दाढ़ी लटकती है (उतना ही इस देश में पूज्य होने के लिए काफी है) और जहाँ ज़मीन को छूती है वहाँ से दूसरा वट निकल आता है। लेकिन अपने को बार-बार पुनरुज्जीवित करने के इसी गुण के कारण रक्त-बीज असुर था ! और फिर दाढ़ी के ज़ोर पर जीने की इस कला को देवत्व की पवित्रता मान ही लें, तो और भी कुछ

पेड़ ऐसे हैं जो जड़ें (नहीं, दाढ़ी !) फेंककर फिर उठ खड़े होते है; उनके देवत्व की तो दूर रही, शायद संस्कृत नाम भी न मिलें।

अगर वट इस प्रकार जड़ो के सहारे ही उगता, तो यही दावा करने को होता कि वह स्वयम्भू है, इसलिए देवता है। लेकिन यह तो केवल जातिवृद्धि का एक उपाय है, और उसमें भी वट अकेला नही है; बल्कि और वनस्पतियो मे आत्म-प्रतिपादन की इससे भी अद्‌भुत क्रियाएँ मिलेंगी। और जो सबसे सीधा साधन है—बीज से अंकुर की उत्पत्ति, उसमे तो वट-पीपल (और अंजीर की जाति के सभी वृक्ष) अन्य पौधों से कहीं अधिक पराधीन है क्योंकि और बीजों की भाँति इनके बीज मिट्टी में गिरकर अंकुरित नही हो जाते। उनके लिए किसी पक्षी के आमाशय के पाचक रसो से सिक्त होना आवश्यक है, उसके बिना अकुर फूटता ही नहीं। यही इनके ठौर-कुठौर पनपने का रहस्य है : पक्षियों की बीट मे ही इन बीजो की अवरुद्ध प्राणशक्ति जागती है—हाय रे देवत्व ! लेकिन श्रद्धालु कहेंगे, कीचड़ मे कमल होता है, बीट से वटवृक्ष पैदा हो तो क्या आश्चर्य ?

दीवारो में से, घर के फर्श मे से, दूसरे वृक्ष के तने के बीच में से—पीपल कहीं से भी फूट निकलता है। कुठौर की बात छोड़ें, तो यह भी लक्षित होता है कि परोपजीवी होना भी मानो आदर की बात है। वह भी न हो, तो इतना तो है ही कि वट-पीपल जिस धरती पर होते है, उसे और किसी काम का नही छोड़ते। क्या यही उनकी शक्ति और इसीलिए उनके देवत्व का लक्षण है ? जिस तरह आततायी राजा अपने प्रदेश का रक्त चूसकर शक्तिवान् हो जाता है; क्या वट-पीपल भी वैसे ही आततायी है और इसीलिए देवता ? या कि यों देखना भी मानव-दर्प है—क्योंकि पेड़ मिट्टी मे और कुछ चाहे न पनपने दे, स्वयं कितनो का आश्रय-दाता होता है—सैकड़ों पक्षी, गिलहरियाँ चीटे-चीटियाँ, एक-एक पेड़ के सहारे जीते है, और मानव भी छाया और औषध पा ही लेता है।

वट का पत्ता लीलाधाम बाल-गोपाल का आसन है :

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्
अश्वत्थपत्रस्यपटे शयानं बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि।

ब्रह्म देश मे पीपल के पत्ते पर सरस्वती विराजती है। हमारे देश में तो वह विराजती है तो जिह्वाग्र पर—दोनों मे साम्य है तो यही कि दोनों मे कोई भी स्थिर नही रहता—जीभ भी चलने के लिए प्रसिद्ध है, और पीपल का पत्ता भी। पीपल का नाम चलदल है इसीलिए। चाहे कितना ही सन्नाटा हो, कहते है कि पीपल को ध्यान से देखें तो एक न एक पत्ता ज़रूर हिलता नज़र आयेगा। हमने अभी तक इसका अपवाद नहीं देखा—अत्यन्त निश्चल जान पड़ने वाली हवा मे भी कम से कम एक पत्ती तो काँपती ही देखी है। इस निरन्तर गतिशीलता से कोई जो चाहे परिणाम निकाल ले। लेकिन कभी-कभी यह भी शंका मन में उठती है,

अगर इस बात को उलटकर कहें, तो वह भी क्या इतनी ही सच न होगी...बल्कि क्या वह भी इसी सत्य का दूसरा पहलू न होगी ? कि कितनी भी आँधी-बवडर हो, पीपल का एक पत्ता अवश्य निश्चल खड़ा होगा...इस सत्य को आजमाने का कभी मौका नहीं मिला; एक तो यों ही आँधी में इतर आकर्षण और कठिनाइयाँ इतनी होती हैं, दूसरे निश्चलता में एक कम्पन को देख लेना आँखों के लिए अपेक्षतया आसान है, आँधी में काँपते हुए समूचे वृक्ष की हलचल में एक निश्चल पत्ते को ढूँढ़ लेना कही कठिन है। दृष्टि सहज ही गति की ओर आकृष्ट होती है। लेकिन देखने की कठिनाई से ही क्या स्वीकार कर लेना होगा कि वह सत्य अस्तित्व ही नहीं रखता ? गहरी से गहरी जड़ता के भीतर कहीं गति का बीज होना जैसा अनिवार्य है; व्यापक चलायमानता और अस्थिरता के बीच मे कही एक चाहे कितना ही छोटा अचल शान्ति का द्वीप. एक ध्रुव बिन्दु होना भी उतना ही अनिवार्य दीखता है, और उसका होना समीचीन। जीवन को किसी ने स्थिर नहीं देखा या देखना चाहा, लेकिन उसके केन्द्र मे कही कुछ स्थिर और अचल है ऐसा भी सभी कवियों और द्रष्टाओ ने अनुभव किया है। क्या जाने, ब्रह्म-देश के जिस कवि-चित्रकार ने पहले-पहल सरस्वती को पीपल के पत्ते पर विराजमान दर्शाया, उसने सत्य का अनुभव किया हो, उसने चलदल के निस्तब्ध वायुमंडल मे भी झूमते हुए एक-मात्र पत्ते को नहीं, तूफान में भी स्थिर निश्चल उस एक पत्ते को देख लिया हो जिसे देखने का सौभाग्य हमे अभी तक नही मिला, लेकिन जिस पर—यही हमें भी ठीक जान पड़ता है—सरस्वती का आसन होगा; विवेक की उस आद्याशक्ति का जिस पर हमारा इस निरन्तर चलायमान जगत् का सारा ज्ञान और अनुभव केन्द्रित है; जो हमारे इस विघूर्णित अस्तित्व की अचल, अडिग, आत्मस्थ धुरी है ?

हाँ, यही ठीक जान पडता है। और लेटे-लेटे तो और भी ठीक; इसीलिए उठना आवश्यक नही है, पूरे पेड़ को देखना भी आवश्यक नहीं है। बल्कि मैं सत-भैये और बुलबुल ही देखता रहूँ, पेड़ की दो डालो को भी न देखूँ, तो भी कोई चिन्ता नही, पीपल है तो मै जानता हूँ कि कहीं वह आधारभूत स्थिरता भी है; और उसे अनुभव करता हूँ तो जीवन की गतिमयता के साथ भी अधिक तत्परता से चल सकता हूँ।

शारदीया धूप

भारत के समतल प्रदेशों के कवि प्रायः वर्षा के गीत गाते है, क्योंकि ऋतुओं के नाम पर वही एक है जो सबसे स्पष्ट लक्षणों द्वारा पहचानी जाती है। जिसे हम देखते ही नहीं, सूँघते भी है, छूते भी है, सुनते भी है और कह सकते है कि चखते भी है। यों तो अगर वर्षा के लक्षण स्पष्ट है तो उसका यह अर्थ होना चाहिए कि ग्रीष्म और शरद के भी उतने ही स्पष्ट हैं—क्योंकि स्पष्ट लक्षण का न होना भी अपने ढंग का स्पष्ट लक्षण है। पर सूखे तर्क में पड़ने से फ़ायदा कभी नहीं होता, और वर्षा की सरसता प्रमाणित करने के लिए तो उसका सहारा और भी व्यर्थ है। ईख की मिठास चखाने के लिए सरकंडे पेरने कौन जाये! एक ही उदाहरण काफ़ी है। क्या कचनार की कली का चटकना, या शरद के बादलों की खिसलन भी हम सुन सकते है, जैसे कि वर्षा का प्रायः हर लक्षण।

श्रव्य काव्य लेकर आता है—बादल, बिजली, बयार, बौछार, कीच की घिचपिच, पानी की छपाछप, टपा-टप, तिप्-तिप्, झर-झर, घहर-घहर, कल-कल, छल-छल; झिल्ली झीगुर की झनक और पपीहे की पुकार, मेढकों की टर्राहट?

और भारत मुख्यतया समतल प्रदेश है, फिर कृषि-प्रधान है और कृषि भी मुख्यतया वर्षाजीवी है, इसलिए देसी मानस में वर्षा का प्रधान स्थान होना स्वाभाविक ही है, बंगाल के कवि गुरु सबसे पहले वर्षा के गीतकार रहे, सुदूर सूखे देशों से आये हुए ईरानी-तूरानी भी भारत के प्रवास से स्वदेश लौटे तो यहाँ के 'मौसमे-बर्शगाल, (वर्षाकाल)' के गीत फारसी साहित्य के लिए लेते गये। निराला के 'बादल-राग' के आगे उन्ही की 'जुही की कली' नहीं टिकती; पन्त के काव्य में अब तो वैदिक गायें रँभाने लगी है पर पहले, जब उनकी मुग्धा सरला बाला 'गिरि को कहती थी बादल-घर' तब उन्हें भी 'भादों की भरन' अधिक प्रेरणा देती थी; 'पीले-मीटे अमरूदों में अब लाल-लाल चित्तियाँ पड़ीं', अनदेखी न करते हुए भी वह कुमाउनी वर्षा के अभिनन्दन में 'बरसो ज्योतिर्मय जीवन!' गाकर ही अधिक स्फूर्त अनुभव करते थे...

यह सब कह लेने के बाद अगर हम अपना असल मन्तव्य यह प्रकट करें कि हमें तो शरद्-ऋतु पसन्द है, तो इसे हमारी अहम्मन्यता न समझा जाय, बल्कि

यह तो विनय है कि अपनी पसन्द का उल्लेख भी करने से पहले दूसरों की पसन्द का गुणगान कर लिया जाये !

यों भी देखिए न : वसन्त तो हुए ऋतुराज। और वर्षा हुई ऋतुओं की रानी। हम अगर राजा-रानी को उनका ऐतिहासिक पद दे देने के बाद अगर बखान करें केवल अपने ग्रामणी का, तो क्या यह प्रजातन्त्रवादिता ही नहीं है—यानी आज की दृष्टि से सही और प्रगतिमुखी आग्रह—क्योंकि ग्रामणी पर ही तो अपनी सुख-सहूलत आश्रित है, उसीके साथ ही तो अपनी ऋद्धि-सिद्धि बँधी है...'गांधी-नेहरू की मानस-पूजा कर लेने के बाद जैसे व्यवहारतः इन्दिरा गांधी के पीछे चलना ही युक्ति-युक्त ठहरता है, वैसे ही वसन्त-वर्षा का बखान कर लेने के बाद शरद को वरीयता देना भी संगत माना जा सकता है। न सही राजा-रानी आप शरद को प्रधान-मन्त्री ही मान लीजिए; न सही सर्वसम्मत, रेक्विज़िशन द्वारा प्रतिष्ठित ही सही...अब तो 'लाभ-सुभ' के लिए अपना केसरी स्वस्तिक उन्हीं के नाम के आगे टीपना है ('डेमोक्रैटिक' मुहावरा मतदान-पेटी का मुहावरा नहीं होगा तो और क्या होगा ?)...यों हमारी नज़र वैसी लाभ-सुभ पर है भी नहीं—हमारे जैसा 'रमता राम' लाभ-सुभ को पा भी जायगा तो सँजोयेगा कैसे और कब तक ! —असल में हमें शान्ति पसन्द है (और उस पसन्द को भी प्रकट करने के लिए हम अपना सहज आलस भी नहीं छोड़ना चाहते !)और शरद ऋतु शान्ति की ऋतु है।

हम बगिया में बैठे है। तीसरे पहर की धूप पेड़ की हरी पत्तियों से छनकर हम पर पड़ रही है : हम पर और हमारे आसपास की छोटी हरी झाड़ियो पर। (यह हमारे आलस का ही प्रताप है कि हमारी फुलवाड़ी मे फूल-गाछ नहीं है, सदाबहार हरी झाड़ियाँ ही है, उनकी पत्तियो की हरियाली कभी गहरी कभी उजली हो जाती है, बस इतना ही परिवर्तन उनमें होता है और उतना ही हमारी आँखों को झेपन का सुख दे जाने के लिए काफी है।...एक बार चुनौती की गर्मी में आलस छोड़ हमने गिनना शुरू किया था तो सिद्ध कर सके थे कि केवल 'हरियाली' के दो-सौ के आस-पास अलग पहचाने जा सकने वाले रंग प्रकृति में मिल जायेंगे। जो लोग सब्ज़बाग दिखाने का धन्धा करते है, हमारे इस शोध कार्य से वे ही फायदा न उठायें इसलिए हम एक तथ्य को प्रकाशित किये दे रहे है। और यह किसी सिद्ध-महात्मा का बनाया हुआ भी नही है, हमारी अपनी खोज है !)

तो—शारदीय तीसरे पहर की धूप : पेड़ बहुरंगी हरी पत्तियों पर धूप-छाँह का खेल। और मन में एक शब्द का अलस उदय ! शान्ति...

शान्ति क्या है ? यों तो 'प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'—पर इस समय हम इसके सिवा किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सकते कि शान्ति एक मनोदशा है। यह ठीक

है कि धूप-छाँह के खेल से मन में एक शब्द का उदय हुआ जो इस मनस्थिति की द्योतक है, और इस धूप-छाँव को देखने का सुयोग हमें इसलिए मिला कि शरद के मीठे जाड़े ने हमें बाहर खुले में ला बिठाया; पर शान्ति अपने-आप में तो मनोदशा ही है।

तो हम शान्ति के लिए ज्ञान क्यों खोजते है? मनोदशा के लिए मन के बाहर का कुछ भी क्यों महत्त्व रखता है—क्यों रखे? मनोदशा तो मन से ही उत्पन्न होनी चाहिए। यही बैठे-बैठे ही हमें शान्ति मिल सकनी चाहिए, हमें मिली—इस आलसी को!—और इसी के लिए तो हम शारदीया धूप और शरद ऋतु की स्तुति कर रहे है!

पर मन स्वयम्भू तो नही है। बाहर की स्थितियों के परस्पर संघात से, प्रभाव से ही तो मन बनता है, इसलिए मनोदशा भी स्थितियों का परिणाम है, चाहे कितना भी परोक्ष परिणाम। बल्कि अभी जो हमें शान्ति का बोध हुआ, उसे तो हम साथ के साथ परिस्थिति से जोड़ ही गये!

यानी शान्ति केवल मन की दशा नही है, वह मन से इतर चीज़ों से—परिस्थितियों से—मन के सम्बन्धों की दशा है।

जिससे दो परिणाम निकलते है। पहला तो यह कि स्थितियों का ज्ञान आवश्यक है; परिस्थितियों से सम्बन्धों का ज्ञान आवश्यक है। दूसरा यह कि ज्ञान ही नहीं, कर्म भी आवश्यक है; क्योंकि स्थिति को जान लेना ही तो उसका अनुकूलन नहीं है; स्थिति को अनुकूल बनाना भी तो आवश्यक है; उसके सम्बन्धों को बदलना भी तो आवश्यक है!

इतना सोचना कुछ भारी जान पड़ रहा है; एक तो आलसी स्वभाव, दूसरे अलसाना भाव!—पर इससे जिस विरोधाभास पर आ पहुँचे उससे निस्तार भी कैसे हो!

—कि अन्तस् के जानने के लिए बहिर्मुखता की आवश्यकता है; कि भीतर को समझने के लिए बाहर का अनुशीलन करना होगा!

—कि शान्ति अर्थात् निश्चलता की अवस्था को पाने के लिए कर्म की, हलचल की, निश्चलता से ठीक विपरीत स्थिति की अनिवार्य आवश्यकता है!

अब इस विरोध को लेकर कोल्हू के बैल की तरह चक्कर काटकर वहीं के वहीं लौट आते रहें, या क्या करें? या तो रास्ता यह है कि ज्ञान की उत्कट खोज में लग जायें—ऐसी खोज, जिसमें अंतस् सूख जाय, जिसमें शान्ति की मनोदशा का अनुभव करने की क्षमता ही चली जाय—पर वह शान्ति क्या जिसका हमें बोध ही न हो, बोध होने की क्षमता ही हमारी नष्ट हो जाय? या फिर दूसरा रास्ता यह कि उत्कट कर्म में प्रवृत्त हों। अनवरत हलचल, संघर्ष, अशान्ति—पर अशान्ति की साधना से कैसे शान्ति, कैसी शान्ति?

और अगर दोनों मार्ग अग्राह्य करें, तब ? तब क्या कुंठित, खंडित प्रवृत्ति ज्ञानाभास : कि शान्ति मिथ्या है, भ्रम है; कि ज्ञान भी मिथ्या है, संघर्ष भी मिथ्या है; कि असल में अनुभव भी मिथ्या है, बोध भी भ्रम है : कि हमारा उद्देश्य नकारात्मक ही हो सकता है—अदुःख की अवस्था, निर्वेद की अवस्था। 'न तो मैं कामना करता हूँ, न मैं कामना नहीं करता हूँ; न तो मैं अनुभव करता हूँ, न मैं अनुभव नहीं करता हूँ; न मैं जानता हूँ, न मैं नहीं जानता हूँ···' "यानी कि 'न मैं हूँ, न मैं नहीं हूँ'—कि हम ही मिथ्या है, होना ही मिथ्या है—'नासदासीन्नसदासीत्'—'स एव वेद न वा वेद' !

चक्कर काटकर हम वहीं की वहीं लौट आते है। ऋषि-पुत्र गाय की प्रदक्षिणा करके पृथ्वी-परिक्रमा कर आये थे, तो हमारी जिज्ञासा भी अगर पेड में से छनकर आयी हुई चकत्ते की प्रदक्षिणा से लौटकर मान ले कि वह तर्क-जगत् का पर्यटन कर आयी तो क्या दोष ? बात की बात वही कि मार्ग कई है; पर कौन-सा चुनकर हम शान्ति की मंजिल पर पहुँचते है यह मूलतः हमारी मनोदशा पर ही निर्भर है। अर्थात् शान्ति मनोदशा ही है, और बाहर से नही, मन से उत्पन्न होती है। वही कामधेनु है जिसकी परिक्रमा भू-प्रदक्षिणा है—और इतना ही नहीं; और वह कामधेनु हमें मिलती भी है तो और कहीं से नही, उसी कामधेनु से !

गोरख-धन्धा ? हाँ, शायद; यही गोरक्षनाथ का असल धन्धा हो सकता है—अगर जिस गोरक्षा के धन्धी वह थे, वह यह कामधेनु ही थी।

पेड की छाँह मे झाडी : पेड की पत्तियों से छनकर आयी हुई धूप में लहकहाती हुई झाड़ी की पत्ती पर झलती हुई शारदीय तीसरे पहर की धूप, हमारी अलसायी हुई बुद्धि को वह और किसी परिणाम की अनुमति नही देती। यही एक परिणाम है जो जीवन और शान्ति के सम्बन्ध को अमान्य नहीं करता, क्योंकि यह न जीवन को मिथ्या करता है, न शान्ति को; जीवन होने की एक दशा है, और शान्ति होने की अनुभूति की और अनुभावक की एक दशा है—सहज, स्वस्थ, स्व-पूरक, स्व-प्रेरित, आत्म-परित और स्वतः सम्पूर्ण दशा...

बगिया में तीसरे पहर की धूप : हरी पत्तियों पर खेलती धूप की आँख-मिचौनी। मन में एक शब्द का उदय : शान्ति...

हमने आपसे कहा है न, हमें शरद ऋतु ही सबसे अधिक पसन्द है। हम शुरू मे ही कह देते, पर एक तो विनयवश नहीं कह पाये, दूसरे आलस्यवश। आप कहेंगे कि यह कैसा आलस जिसमें तीन शब्द का वाक्य कहने के बदले तीन अनुच्छेदकों की भूमिका हो जाय ? पर सोचिए न, भूमि का विस्तार बताये बिना गोप्रदक्षिणा की सुगमता विधा कैसे सिद्ध होती ? और अगर विरोधाभास फिर भी बचा रह गया जान पड़े, तो समझ लीजिए कि वही तो हम बताना चाह रहे थे—

कि शान्ति की जड़ में विरोधाभास ही तो बचा रह जाता है।

वसन्त-राजा; वर्षा-रानी। राजा-रानी को जाने दीजिए, ग्रामणी जी, हम तो अपना वोट आप ही को देंगे। शान्ति एक तो हमें पसन्द है, दूसरे जब वह आलस के साथ मिल रही है—सुहागे के साथ सोना !—तो हमें और क्या चाहिए ?

हरी पत्तियों से छनकर आयी धूप : धूप में इठलाती हरी पत्तियाँ, जिनपर खेलती धूप। एक ही शब्द : शान्ति...

सन्नाटा

'कैसा सन्नाटा छाया है !' हम कहते है, और फिर अनायास ही कान लगाकर उसकी आवाज सुनने लगते है। 'वहाँ सन्नाटा साँय-साँय करता है—वह बड़ा डरावना मालूम होता है',—यह भी प्रायः सुनने में आता है।

असल में सन्नाटा आत्यन्तिक रवहीनता नही है। वह शब्द का ही एक गुण है। कह लीजिए कि वह मौन का स्वर है, निस्तब्धता की गति है।

इसमें कोई मौलिक विरोध नहीं है, क्योंकि स्वर के क्षेत्र में जैसे सन्नाटा है, वैसे ही और इन्द्रियगोचर क्षेत्रों में भी लक्ष्य होता है। स्वाद ले लीजिए—हम कहते है फीका—उस चीज़ के लिए जिसमें कोई सवाद नहीं होता। लेकिन क्या फीका वास्तव में स्वादहीन है ? अच्छा स्वच्छ पानी स्वादविहीन होता है—पर उसे हम कभी फीका नही कहते। पानी को अगर कभी फीका कहते है तो तभी जब उसमें एक विशेष प्रकार का स्वाद होता है—और वह फीकेपन का स्वाद है, ठीक उसी तरह जिस तरह सन्नाटे की आवाज होती है !

हम कहते है अँधेरा। अँधेरा प्रकाश की एकान्त अनुपस्थिति है, और रंग क्योंकि प्रकाश का गुण है, इसलिए अँधेरे का कोई भी रंग नही हो सकता। लेकिन हम कहते है काला अँधेरा—खैर, मान ले कि काला भी रंग नहीं है, रंग की अनुपस्थिति है, तो हम जानते है कि अँधेरा नीला भी होता है, और भूरा भी होता है, और एक अवर्णनीय रंग का धुँधला अँधेरा भी होता है...'आँखो के आगे अँधेरा छा जाता है'—पर उस समय हमें तारे दीखते है, या लाल-पीला या हरा रंग दीखता है, यह मै निजी अनुभव से कहता हूँ। (अनुभव आपका भी होगा अगर आपकी आँखों के सामने कभी अँधेरा छाया हो; पर आपने शायद लक्ष्य न भी किया हो, मुझ निठल्ले को तो ऐसी खुराफात सूझती रहती है !)

भाषा बुद्धि का एक उपकरण है। सम्यक निरूपण या वर्णन का वह माध्यम है। तब क्यों ऐसा प्रमोद ? लेकिन वास्तव में यह भाषा का दुरुपयोग नही है। असल में मानव बुद्धिजीवी या तर्कजीवी होकर भी—या होने के कारण ही !—सम्पूर्ण नकार से डरता है। किसी एकान्त, आत्यन्तिक नकार का न कभी वह दावा करता है, न उसे पाना चाहता है, बल्कि कहना चाहिए उससे कन्नी काटता है।

सम्पूर्ण नकार कुछ है तो कुछ बहुत बड़ा है, कुछ विराट् है। नकार का अपना एक ऐश्वर्य है, जिसे मानव की कल्पना समा नहीं सकती। क्या इसीलिए नहीं कि ईश्वर के सब विशेषण नकारात्मक है अनादि, अनन्त, अगम, अगाध, अरूप, असीम, अप्रमेय। धर्मात्मा लोग समझाने लगते है तो कहते है कि जब ऋषि लोग परमात्मा का बखान करते-करते हार गये तब लाचार उन्होंने कहा, "नेति-नेति!"—यह नहीं, यह नहीं। पर वास्तव मे यह परिभाषा की पराजय नहीं है, यह तो स्वयं संपूर्ण परिभाषा है; जो कुछ है, वह है इसीलिए स्वीकारमूलक है, एक सम्पूर्ण नकार ही हमारी कल्पना से परे है, अनिर्वचनीय और अकल्पनीय है, और वही तो परमात्मा है!

सन्नाटा! यह नाम ही उस 'सन्-सन्' ध्वनि से बना है जो हम सन्नाटे में सुनते है। यह वैचित्र्य है कि कहीं उसे 'सूँ-सूँ' सुनते है, जैसे पंजाब में, कही 'साँय-साँय', जैसे अधिकांश भारत मे, कहीं 'हाउँ-हाऊँ', जैसे शायद बंगाल में। यों उत्तर प्रदेश में ऐसे भी है जो इसे 'भाँय-भाँय' सुनते है; लेखक लोग भी। सन्नाटे के स्वर को कोई 'भाँय-भाँय' कैसे सुन सकता है, मेरी समझ में नहीं आता, खासकर साहित्य-स्रष्टा; पर हिन्दी के लेखक सुनते हैं, और हिन्दी राष्ट्रभाषा है तो उसके लेखकों के बारे में गुस्ताखी की बात कैसे कही जाय! इसलिए मैं सोचता हूँ कि 'भाँय-भाँय' असल में 'भय' और 'साँय-साँय' की सन्धि से बनाया गया होगा—भयावने सन्नाटे के लिए। किसी भावना को दो शब्दों से खींचकर एक ही शब्द में घनीभूत सार रूप में संचित करने का यह टेकनिक यूरोपीय लेखकों ने भी अपनाया है, यथा जेम्स जॉएस ने; और यह कैसे हो सकता है कि यूरोपीय साहित्य मे कोई प्रयोग हो और हिन्दी में न हो बल्कि उससे पहले!

यों यह हो सकता है कि अलग-अलग प्रदेश के सन्नाटे मे भी थोडा अन्तर हो। पर असल में उसका शब्द सुनने में शायद हमारे कानों का अन्तर ही प्रधान होता है। शब्द-निर्माण में ध्वनि का अनुसरण एक मुख्य स्थान रखता है। ध्वन्यनुसारी शब्द प्रत्येक भाषा में भरे पड़े है—ठाँय, धड़ाम, छलछलाना, रुनझुनाना, चिचियाना, चहकना, सनसनाहट, गड़गड़ाहट। लेकिन कौतुक यह है कि एक ही ध्वनि को विभिन्न देशों में कितने प्रकार से सुना जाता है। गोली की आवाज़ लीजिए: हम सुनते हैं 'ठाँय', लेकिन अंग्रेजी मे वह हो जाता है 'बैंग' या 'क्रैक'। तोप हमारे यहाँ कहती 'धाँय'। पर जब अंग्रेजी बोलती है तो कहती है 'बूम'। इसी प्रकार 'रुनझुन' के लिए 'टिंकल', 'गड़गड़ाहट' के लिए 'रम्बल', पानी की कल-कल ध्वनि के लिए 'रसल'—और भी बहुत से गिना दिये जा सकते है। कभी-कभी तो इन भेदों को देखकर एक पुराना पंजाबी जन-गीत याद आ जाता है—'राजा पटियाले वाला बोली होर बोलदा'—पटियाले वाला राजा और ही बोली बोलता है, पानी को वाटर कहता है, बेटी को डाटर कहता है...

लेकिन ध्वन्यनुसारी शब्दों मे केवल भेद ही हो, ऐसा नही है। कहीं आश्चर्य-जनक साम्य भी है। हमारे यहाँ मोटर घर्र-घर्र करती है, वहाँ उसके लिए 'हर्र' शब्द है; बहुत हल्का हो तो 'पर्र' कहते है—यही शब्द बिल्ली के गुरगुराने के लिए भी है। मोटर साइकिल 'फटफटिया है, इसका हमवजन नाम तो अंग्रेज़ी में नही है, लेकिन इंजन का 'पर्टारग' वे भी सुनते है। और अंग्रेज़ी के महाप्राण उच्चारण में 'पटर' विस्फोटित होकर 'फटर' हो ही जाता है। कवि-प्रिय मर्मर ध्वनि अंग्रेज़ी मे भी 'मर्मर' ही है।

ये साम्य और वैषम्य तुलनात्मक अध्ययन का बडा अच्छा विषय हो सकते है। यह भी पाया जा सकता है कि विशेष काल मे कोई विशेष ध्वन्यनुसारी चला हो, या उसका कारण बाह्य स्थिति की कोई विशेषता हो। जैसे गिरनाले लीजिये। हमारे यहाँ ही 'धम्म' या 'धडाम' से भी गिरते है, खट् से भी। अंग्रेजी मे 'क्रैश' करते है, या 'थड' होता है। हो सकता है कि कच्चे फर्श पर गिरने से एक चला हो, पक्के फर्श से या लकड़ी के फर्श से एक। अब जहां अधिकतर लकड़ी के फर्श होते है—या थे—वहां गिरने का ध्वन्यनुसारी एक शब्द हो जायेगा जहाँ कच्चे फर्श होते हो वहाँ दूसरा। फिर जब शब्द रूढ हो जाते है तो उनकी ध्वन्यनुसारी व्युत्पत्ति लोग भूल जाते है; लकड़ी के फर्श जब नही रहेंगे तब भी उस पर गिरने के लिए जो शब्द रूढ़ हो गया है वह गिरने के लिए चलता ही रहेगा।

स्थिति-वैचित्र्य तो पूरे समाज को प्रभावित करता है। पर व्यक्ति-वैचित्र्य का भी असर हो सकता है। अब पानी की कल-कल ध्वनि वाल्मीकि से कालिदास और कालिदास से प्रगति-पूर्व तक के कवि सुनते आए— प्रगतिवादियो को वह न सुन पड़ी क्योंकि प्रकृति की आवाजे रूमानी आवाजे थी जिनके प्रति उन्होंने कान बन्द कर लिये, बन्द कारखाने को मानवी क्रियाओं का श्रेष्ठप्रतीक मानकर उन्होंने अपने को किस आश्चर्यजनक रूप से इन्द्रिय-गोचर सवेदनाओं के प्रति बन्द कर लिया, यह सहसा विश्वास नही होता। जो इन्द्रिय-सवेदना के प्रति बन्द है उसकी मानसिक संवेदना भी अधिक नही टिक सकती, क्योकि इन्द्रियाँ ही मन की ग्राह्-कता के उपकरण है; यह सीधी-सी बात वे भूल गये। लेकिन हम उनकी आलो-चना करने नही बैठे, हम कल-कल ध्वनि की बात कह रहे थे। सहसा छायावादी पन्त ने सुना, कलकल ही नही, 'कल्-कल् : टल्-मल्'। आज-कल ऋषि नही होते, अत: आर्ष प्रयोग की दुहाई तो नहीं दी जा सकती; पर कवि द्रष्टा है तो श्रोता भी है; महाकवि के अनुयायी होकर हम पानी के स्वर के लिए टलमलाना कहने लगें तो वह ध्वन्यनुसारी होगा या नही यद्यपि हमने वैसा नहीं सुना ?

लेकिन वास्तव में हम सन्नाटे को जानते नहीं है। नही जानते, क्योकि वास्तव में वह है नकार ही, और नकार को हम तद्वत् ग्रहण नही कर सकते। केवल कुछ

लक्षणों के सहारे उसका भावन कर सकते है। और कौतुक यही है कि ये लक्षण कोई नकारात्मक नहीं होते, केवल सूक्ष्म होते हैं। पहाड के आगे जैसे राई है, इसी अनुपात में राई के आगे कुछ होगा, उस कुछको हम कुछ नहीं कहते है, पर वास्तव में वह कुछ नहीं तो नही है ? अस्तित्व के विराट् से अनस्तित्व के विराट् तक जाने के लिए, सूक्ष्म अस्तित्व के ऐसे छोटे-छोटे सेतु हम बनाते है; पर जिस तरह एक विराट् अपर्याप्त लक्षणों के द्वारा ही भावित होता है, उसी प्रकार दूसरा विराट् भी। इसे चाहे मानव की लघुता मान लीजिए कि वह विराट् को मुट्ठी मे नही करता, केवल भावन करता है, चाहे उसकी महत्ता मान लीजिए कि वह लघु होते भी विराट् का भावन करता है, उसकी ओर उठता है, उसे पाना चाहता है।

तो सन्नाटे को हम अपने-आपमें नही जानते। छोटे-छोटे स्वरों के सहारे ही जानते है। और स्वरो को सुनने मे भी बहुधा अपनी इच्छाओ का, विचारो का आरोप उन पर करते है। हम कहते है, 'प्रभात का सुहावना शान्त समय'—तो क्या अपनी शान्ति-लिप्सा दृश्य पर आरोपित नही कर रहे ! प्रभात में इतने प्रकार के स्वर होते है कि सूची बनाने लगे तो चकित हो जायेगे। विशेषकर हमारे देश मे, जितने प्रकार के पक्षी सबेरे बोलते है उनकी सूची ही यथेष्ट होती है। यहाँ सन्नाटे के आस-पास की कुछ शान्ति होती है तो ग्रीष्म की दोपहरी मे... और उस वक्त हमारी इन्द्रियां भी इतनी शिथिल होती है कि कदाचित् सन्नाटे की साँय-साय भी न सुने ..या सुनकर भी अनसुनी कर दें। पर फिर भी मैं जब उस सन्नाटे की कल्पना करके थोडी देर के लिए अपने को उसे सौप देना चाहता हूँ, तब अनिवार्यतः पाता हूँ कि उसमें एक स्वर और है...मक्खी की अलसायी-सी भिनभिनाहट...या किवाड बन्द करके, खस की टट्टियाँ लगाकर इतना अँधेरा कर लूँ कि वह भी न रहे, तो उससे भी सूक्ष्म एक स्वर...मच्छर की पिनपिनाहट ...सर्वथा स्वरमुक्त सन्नाटा कभी पाया हो, याद नही आता : हाँ पानी के तले डुबकी लगाकर कभी उसके कुछ निकट पहुंचा हूं, लेकिन वहाँ इतनी देर टिक नही सका कि ठीक पड़ताल कर सकूँ, और फिर साँस रोकने से कानों मे अपने ही हृदय की धड़कन भीतर से ऐसी गूँज गयी है कि जैसे सागर का शोर...

और शायद सन्नाटे की साँय-साँय है भी यह अपने ही भीतर का शोर...अपने ही आकुल अनवरत रक्त-प्रवाह की गूँज। सीपी मे हम जब सागर का शब्द सुनते है, तब अपने ही रक्त का मर्मर (टलमलाना?) सुनते है। और शायद इसीलिए कोई साँय-साँय को भाँय-भाँय भी सुन सका हो, रक्त के अतिरिक्त दबाव से जिसकी धमनियाँ अपना लचकीलापन खोकर पथरा गयी हों (डाक्टर कहते है कि उनमें चूने का अस्तर लग जाता है) उसे उनमे रक्त का प्रवाह वैसा ही सुन पड़ सकता है जैसा धातु के पाइप मे से दौड़ता हुआ द्रव, न कि पेड़-पत्तियों में से सनसनाती हुई मुक्त हवा।

लेकिन साँय-साँय और भाँय-भाँय ये जो भेद है, उसे लेकर झाँय-झाँय करने की आवश्यकता नही। ऐसे सूक्ष्म भेद होते ही हैं, और जीवन-वैचित्र्य के सहायक है। भौंरे की गुनगुनाहट, मक्खी की भिनभिनाहट, मच्छर की पिनपिनाहट एक ही ध्वनि के मन्द, मध्य और तार रूप के लिए देखिए कितना सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट भेद रखने वाले ध्वन्यनुसारी शब्द है। चिड़िया चहचहाती है, मगर उसका बच्चा चिचियाता है। दीन बकरी मिमियाती है, दीन कुत्ता रिरियाता है, दीन मानव गिड़गिड़ाता है। और मैं जो कुछ कह रहा हूँ, आपको लगेगा कि यह बड़बड़ाता है; उस पर आप कुछ कहेंगे तो मै समझूँगा कि व्यर्थ भडभड़ाते है। यही कह दूंगा तो आप बौखला उठेंगे, और मैं फिसफिसाकर रह जाऊँगा।

फिर सन्नाटा हो जायगा। लेकिन सुनिए तो, सन्नाटे का स्वर है, साँय-साँय। याकि—?

गाँव का पोखर

गाव की याद आना अपने गँवई देश में कोई अनोखी बात नही है। पर हमें जब गाँव की याद आती है तो जो बिम्ब मन में उभरता है वह पडोस के गाँव के पगले लड़के का है जो घटों पोखर के किनारे बैठा पानी में झाँकता रहता था। यह ज़रूर अनोखी बात होगी। अनोखी बात कहना आजकल का फैशन भी है, पर हमें अगर फैशन ही अपनाना होता तो निश्चय ही और कोई इससे भी अधिक अकल्पित बिम्ब उभार सुनाते, यही एक चित्र उभरा है तो इसीलिए कि यही याद सच्ची है, इसके लिए कल्पना का सहारा नही लेना पड़ा।

हमने कहा पडोस का गाँव! असल मे उसे पडोस' कहना उससे सम्बन्ध जोड़ना नही, उसे कुछ दूरी देना था। क्योंकि सच बात यह थी कि दोनों गाँव अलग-अलग नही थे, एक ही गाँव पोखर को बीच मे डालता हुआ दो मे बँट गया था। कुछ का कहना था कि असली गाव दोनो गाँवो के बीच के वीरान मे था जहा अब एक पुराना दीखने वाला टीला खड़ा था। टीले की भुरभुरी लाल धूल इसकी पुष्टि भी करती जान पड़ती थी। पर अगर यह बात सच भी रही तो वह असली गाँव कैसे मिट गया, और उसके दो छोर परेहटते हुए दो गाँव कैसे बन गये इसका कोई जवाब नही था। मज़े की बात यही थी कि दोनों बस्तियाँ एक-दूसरे को तो अपने से अलग रखती हुई 'आन गाँव' बनना चाहती थी, पर बीच के पोखर को दोनों 'हमारा पोखर' के रूप मे देखती थी, चाहे घाट अलग-अलग थे।

तो मेरी स्मृति में 'उनका' पागल लड़का 'हमारे' पोखर के किनारे 'उनके' घाट की कच्ची सीढ़ी के पक्के पत्थर पर बैठा, घंटों पानी मे को झाँकता बैठा दीखता है। किनके पानी मे को, हमारे या उनके! क्या देखता हुआ?—परछाइयाँ—तस्वीरे? उनकी या हमारी? या केवल अपनी?

हमजोलियो मे अकसर बात होती थी: वह क्या देखता रहता है? कुछ का खयाल था कि उसे सपने दीखते है; कुछ का निश्चय था कि उसे देवता दीखते है तभी तो वह बीच-बीच में कभी पानी की ओर अकारण हँस देता है, और कभी उसके चेहरे पर कोई स्याह छाया खेल जाती है। किसी स्कूल के पढ़े सयाने का कहना था कि उसमे सपने या देवते देखने की अक्किल भला कहाँ हो सकती थी!

पगला केवल चीजों के हिलने-डुलने से आकृष्ट होता था—गति पहाचनने भर की बुद्धि उसमें थी और इसीलिए पोखर की सतह पर या तल में बसने वाले जीव-जन्तुओं की गति ही उसे मन्त्र-मुग्ध किये रहती थी : जल-मकड़ियाँ, कीड़े, मेढक के बच्चे, जोंकें...हमारा अपना दृढ़ विश्वास था कि वह कुछ नही देखता था—कुछ भी देखने की बुद्धि उसमे कहाँ थी ? दीखने और देखने मे फ़र्क है : दीखना तो किसी भी चीज की छाया आंख की पुतली में पड़ने को कह सकते है, पर देखने के लिए तो उस छाया की पहचान जरूरी है —मस्तिष्क की क्रिया जरूरी है और वह पगला इसीलिए तो है कि उसका मस्तिष्क काम नही करता। पर एक सवाल का जवाब हमारे पास नही था : अगर वह कुछ नही देखता है, तो उसे देखने के लिए पोखर मे झांकता क्यो बैठा रहता है—कुछ नहीं तो कहीं भी देखा जा सकता है, फिर पोखर मे ही क्यो उसे देखना जरूरी है ?

स्कूल हम भी गये ही—कुछ दिन तो गये ही, भले ही सयानो मे गिनाये जाने तक नही टिक सके। वहा एक कविता पढ़ी—(हां, सच; सयानो मे गिनाये जाने तक न टिकने का कारण यह भी हुआ कि कविता पढ़ने लगे और—अब अपना ऐब क्या छिपाना ! —एक-आध बार कविता कर भी बैठे ! पर वह प्रसंगान्तर है !) जिसका सार यह था कि 'एक आदमी ने पोखर मे झांका है : पोखर मे केवल अपनी परछाही देखी है—अपना चेहरा—एक बेवकूफ का चेहरा...और एक दूसरे आदमी ने झांका : उसने देखी घास, शैवाल की झूमती लडियाँ, नाना उद्भिज और जीव-जन्तु; अपनी परछाई नही, उसने देखी विधाता की लीला—वह था बुद्धिमान !' कविता अग्रेजी मे थी। इतना हमे अब भी स्मरण है कि उसके पहले छन्द मे 'पूल' और 'फूल' की तुक थी—'लुकड इटु ए पूल...सॉ द फेस आफ ए फूल'... कविता याद नही; चाहे तो 'कंपना-सपना—(चेहरा) अपना' की तुक से उसकी कुछ छाया दिखाने का प्रयत्न कर सकते है, या ये तुके पुरानी जान पडे तो 'सोचू-घोचू-पोछू' जैसी नयी चाल की तुके भी आजमा सकते है, या एक कदम और आगे बढ़कर 'क्यो छूट जाती है ?' में से 'क्यो छू' की भी तुक जोड़ ली जा सकती है... प्रो० केसरी से लेकर भू० पू० प्रो० माचवे तक सभी का अनुमोदन मिल जायगा; बल्कि परम्परा मे श्रीकात वर्मा भी जुड़ जायेगे जो प्रोफेसर है तो नही पर कविता पढ़ते है—और दीखते है—ठीक वैसे जैसे हिन्दी का प्रोफेसर ! पर हमारा उद्दिष्ट न तो कविता जोड़ना है, न परम्परा जोडना; हम तो गांव के पोखर और गांव के पगले की बात कर रहे है।

स्कूल मे पढ़ी हुई वह कविता कभी हमारे गले से नहीं उतरी। बल्कि पश्चिमी ढग का वह तर्क भी हमारी समझ मे नही आता जो प्रायः अंग्रेजी कविता मे मिलता है, बल्कि उनके दृष्टान्तो मे भी पाया जाता है जो कि सयानेपन की पराकाष्ठा माने जाते है।

अब बताइये कि बेवकूफ़ का चेहरा न देखने में कौन-सी करामात है ? अगर वह है ही बेवकूफ का चेहरा तो उसकी परछाई मे बेवकूफ का चेहरा न देखना क्यों प्रशसा की बात हो जाती है ? ऐसी ही बात बाइबिल की दस कुमारियों की कथा मे मिलती है : पाँच इसलिए बेवकूफ़ बतायी जाती है कि वर के आने की बात सुनकर वे ऐसी आनन्द-विभोर हो जाती है कि अभिनन्दन की तैयारियाँ करना भी भूल जाती है; और पाँच इसलिए सयानी कि समाचार मिलते ही सौ कामों मे उलझ जाती है। अब हमे तो प्रेम-विभोर होने मे न सिर्फ बेवकूफी दीखती बल्कि हमारी तो सारी सहानुभूति उन पाँचो के साथ है, उन्ही के प्रेम को हम आदर्श मानना चाहते है, न कि दूसरी पाँच को जिनका प्रेम भी इतना हिसाबी था। और यहाँ हमे एक नयी सूझ भी सूझ रही है : पाँच बेवकूफ़ कुमारियो के चेहरे में हमें बेवकूफ का चेहरा नही दीखता, तब तो हम भी उस न्याय से सयाने हो गये जिससे बेवकूफ का चेहरा न देखना सयानेपन का प्रमाण है। लेकिन यह हम आत्म-प्रशंसा के लिए नही कह रहे है केवल दूषित पश्चिमी न्याय की पोल दिखाने के लिए कह रहे है। हम तो अपने सवाल पर कायम है : कि अगर था ही बेवकूफ़ का चेहरा तो उसे न देखने मे 'कौन-सी चातुरी है ? थी ?' उसे देखना, भरपूर देखकर पहचान लेना ही तो अच्छा है : अपने को मूर्ख पहचानने मे ही क्या विवेक की पहली सीढ़ी नही है ?

इसलिए हम तो कहेंगे, बार-बार कहेंगे, कि हाँ, देखो बेवकूफ के चेहरे को, उसे पहचानो, उस पहचान से कतराओ मत ! उसे ध्यान से देखो, अगर वह कुछ और अजनबी लगे तो और ध्यान से देखो : वह निश्चय ही बेवकूफ़ का चेहरा है, और असंदिग्ध रूप से तुम्हारा चेहरा है ..और ध्यान से गहराई से देखो, आँखों मे झाँको : शायद वहाँ बुद्धि की एक चिनगारी दिख जाय, शायद विनयकी चमक भी...यानी तब अगर तुम एक साथ ही अपनी परछाई को भी देख सको और परछाई के पारजल-मकड़ियों, कीड़ों, मेढक के बच्चों और जोंकों को भी, और दोनों का सम्बन्ध-सूत्र, दोनों की एकता का सूत्र, जीवन का दृढ़बन्ध, पहचान सको ! जीवन अपनी खोज में नही जाता, क्योंकि अपनी खोज में चले तो अपने को कभी पा ही न सके, जीवन केवल अपने को अभिव्यक्त करता है, अपने को स्वीकार करता है, अपने होने को अपनी सहमति देता है और इस प्रकार मुक्त होता है...

गाँव का पगला—कौन गांव का ?—पोखर में झाँकता रहता था : हमें तो पक्का विश्वास है कि वह अपना चेहरा और जल-जन्तु दोनों को देखता था—निश्चल केन्द्र को भी और अनवरत संक्रमित परिवृत को भी—या कि निरन्तर घूमते हुए केन्द्र को भी और अचलवत् गोल को भी यानी कि वह एकत्व को देखता था। सम्भव है कि वह केवल देखता हो, समझता न हो, पर पाठक, आप निस्सन्देह समझ भी सकते हैं, क्योंकि वह तो पगला था, और आप पगले नहीं है।

या कि है ? पोखर में झाँककर देखिए : अगर आपको पगले का चेहरा दीखता है, उसे आप पहचानते हैं और पहचानने से कतराते नहीं, उस विशाल घूर्णित से एकप्राणता का अनुभव करते हैं, तो —शायद—कभी दैव-कृपा का स्पर्श आपको भी मिलेगा; ज्ञानी आप भी हो जायेंगे।

पोखर में झाँकना और पोखर का तल (या पानी की सतह ही) देखना कोई दोष नहीं है। गोचर अनुभव कोई पाप नहीं है। इन्द्रिय-चेतना अन्त नहीं है, पर ऐसा भी नहीं है कि उनकी उपलब्धि मिथ्या-माया है। गोचर अनुभव से, इन्द्रिय चेतना की प्रणालियों में से होकर ही उच्चतर चेतना बह सकती है अगर उसकी वाहन पाँचों इन्द्रियाँ झूठी हैं ? अगर वह झूठी है, उनकी चेतना छल है, तो उच्चतर बोध भी छलना है, क्योंकि वह भी उसी वर्ग और कोटि का ही हो सकता है, उसके साथ एक-रस है ..

गाव के पोखर को हम स्मरण करते हैं; उसमें हम झाँकते हैं। हमें दीखता है —वह भी जो हम है, और वह भी जो हम नहीं है, जो हमसे इतर है। पगला भी हमें दीखता है, और विराट् भी; पगले की आँखें विराट् को देखती हैं और झुकती नहीं; हम पगले की आँखों में झाँकते हैं और उनमें विराट्—

नहीं, गाँव की याद पोखर के किनारे के पगले की ही याद है; गाँव का पगला पोखर में क्या देखता रहता था हम नहीं जानते; पर हम स्वयं घटों बिना थके पोखर में झाँकते रह सकते हैं। यों यह पहचानने-देखने के लिए हमें किसी पोखर में झाँकने की जरूरत नहीं कि हम भी पागल हैं : उतना तो हम स्वय अपनी आँखों में बल्कि आँखें मूँदकर भी देख सकते हैं!

कुछ वर्गवाद

वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, मनीषियों और वी० पी० से माल भेजने वालों—सभी ने अपने-अपने ढंग से मानव-जाति का वर्गीकरण किया है। और अपने-अपने स्थान पर, अपनी-अपनी सीमाओ के अन्दर, उनके बनाये हुए वर्ग सार्थक भी हो सकते है। विज्ञान और दर्शन में हमारी पहुँच उतनी ही है कि बस—किसी से पूछा गया कि 'भई, तैरना कितना जानते हो ?' तो बोला कि 'कुछ लोग बिना हाथ-पैर हिलाये डूब सकते है, हम डूबने से पहले ज़रा हाथ-पैर मार लेगे।' और जहाँ तक वी० पी० माल का प्रश्न है, हमने वी० पी० छुडाये ही छुडाये है, और एक-आध तो ऐसा भी छुड़ाया है कि उसमें से माल ही नही निकला ! फिर भी हमने मोटे तौर पर मानव जाति को दो वर्गो मे बाँटने का जो भारी आविष्कार किया है, वह इतना भारी है कि उसका गुरुत्व हमीं पहचानते है !

साधारणतया मानव दो प्रकार के होते है : कूकुर-मानव और बिलार-मानव। कही आप इन पशु विशेषणों से समझें कि हम व्यंग्य कर रहे है—तो याद दिला दें कि प्राचीन सामुद्रिक ने पुरुष-नारी को जिन चार-चार श्रेणियो में बाँटा, वे आठों पशु श्रेणियाँ ही थी—यों व्यंग्य तो हर बात में है ही और हमारा अभिप्राय यह है कि मानवों में मूलतः दो प्रवृत्तियाँ पायी जाती है—कुछ को कुत्ते अच्छे लगते है, कुछ को बिल्लियाँ। हमें स्वयं दोनो अच्छे लगते है, पर यह निर्णय करने का कभी मौका नही मिला कि यह पसन्द आवर्तित होती रहती है, या कभी दोनो एक साथ भी (और एक जितने) अच्छे लगते है ! यह जिज्ञासा अब भी बनी है. क्योंकि कभी अगर हमने इसकी पड़ताल करने का प्रयत्न किया भी, तो शोध के साधनो ने योग नही दिया — कभी कुत्ते ने बिल्ली को खदेड़ दिया, तो कभी बिल्ली ही कुत्ते पर ऐसी खिखियाकर झपटी कि कुत्ता दुम की लँगोटी लगाता हुआ भाग गया और फिर कभी दीखा नहीं—जैसे नकली-साधू जिस मुहल्ले में उनकी पोल खुल जाय वहाँ फिर कभी नहीं आते !

वैसे अनुमान तो यही है कि दोनो एक साथ शायद ही किसी को अच्छे लगते है। समकालीन मुहावरे में कहें कि लोग या तो कूकुरवादी होते है, या बिलार-वादी। सुना है कि अंग्रेज लोग कुत्ते भी बहुत पालते है और बिल्लियाँ तो इतनी

कि इंगलिस्तान में हर तीन परिवारों पर दो बिल्लियों की पड़त आती है—पर अंग्रेज़ तो समझौतावादी जाति है, इसलिए उसका दृष्टान्त काम नहीं देता।

दोनों मतवादियों के कुछ लक्षण विशिष्ट होते है। हमारे एक विश्लेषण-पटु मित्र का दावा है कि पुरानी कहावत को बदलकर यह कहना चाहिए कि 'हमें बता दो कि किसी का कुत्ता (या बिल्ली) कैसा (या कैसी) है, और हम बता देंगे कि वह आदमी कैसा है!'

साधारणतया बिलारवादी अन्तर्मुखी होते है। वे चिन्ताशील बहुत होते है, पर अपने विचारों की चर्चा कम करते है, और अपनी गतिविधि में हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकते। उनमे स्नेह करने की शक्ति कम हो, ऐसा नही, पर वे प्रदर्शन कम करते है। कुछ उनमे सत्तालोलुप भी होते है, और सत्ता की साधना में कडी से कडी तपस्या कर सकते है, पर साधारणतया उनका सहज संयमित जीवन उनके स्वस्थ आत्मानुशासन का ही परिणाम होता है।

और कूकुरवादी? बहिर्मुखी और प्रगलभ, संवेदनशील और अपनी संवेदनाओं का असंयत प्रदर्शन करने वाले, सीधे-सादे, अल्प-सन्तोषी प्राणी होते है। बातों से उन्हे प्रेम होता है, कभी कुछ अच्छी बात कह जाते है तो उससे स्वयं इतने प्रभावित हो जाते है कि बार-बार दुहराते है। आपने देखा है कि कुत्ता कभी फेकी हुई गेद या लकडी उठाकर ले आता है तो उसे मालिक के पास रखकर किस अदा से उसके लिए प्रशंसा की माँग करता है? दाद न मिलने से वह अत्यन्त अप्रतिभ हो जाता है!

आप कहीं समझें कि हम कुत्ते के स्वभाव का मानव पर आरोप कर रहे है, और यह वैसी ही बात हुई कि चुकन्दर खाने से रक्त बढता है, या कि तोते की जीभ खाने से आदमी बहुत बोलने लगा है। लेकिन यह बात हमारा आविष्कार नही है, स्वयं कूकुरवादी कुत्ते और मनुष्य के गुणो की तुलना किया करते है—और निर्णय भी कुत्ते के पक्ष मे दिया करते है। ऐसी एक उक्ति प्रसिद्ध है: 'जितना अधिक मैं मानवों को जानता हूँ, उतना ही मैं कुत्तों से प्रेम करता हूँ।' बात गहरी मालूम होती है, और बहरहाल कहने का ढग तो चमत्कारपूर्ण है ही—कूकुरवादी इससे कितने प्रसन्न होते है, क्या ठिकाना! और बहुत से लोग जो कुत्तों से न मालूम स्नेह करते है या नही पर मानवद्वेषी जरूर है, इस वाक्य को प्रमाण-वाक्य मानकर चलते है—इसके बाद मानव के पक्ष मे सोचने को कुछ उनके पास रह ही नहीं जाता!

हमे सदैव यह लगा है कि इस कथन की कुछ पड़ताल करनी चाहिए। पहला प्रश्न तो यह है कि जब आप कहते है कि आदमी की निस्बत मे आपको कुत्ता अधिक प्रिय जान पडता है, तब 'आदमी' वर्ग में क्या आप अपने को भी गिन लेते है, या कि विचारक की तटस्थता की ओट लेकर अपने को छोड़ देते है? अगर

ऐसा है तो जनाब, आप आत्म-प्रवंचक हैं, और आदमी से कुत्ते को अच्छा बताने का आपका यह स्टंट केवल इसलिए है कि आप अपने को दोनो से अच्छा मानते रह सकें—आपकी बात केवल प्रच्छन्न आत्मश्लाघा है।

और अगर ऐसा नही है, आप अपने को अलग नही रख रहे है, और 'मानव को जानने' से अभिप्राय स्वयं अपने को जानने से ही है—यानी अगर आप यह कहना चाहते है कि जितना आप अपने को जानते है उतना ही आप कुत्ते को अधिक प्रिय समझते है, तो यह आत्मावसाद विनय तो हो सकता है, पर प्रश्न यह रह जाता है कि आप तो कुत्तों से प्रेम करते है पर क्या कुत्ते भी आपसे प्रेम करते है? और यहाँ आकर हम पाते है कि यह फिर आत्मसमर्थन का ही एक रूप है। हर आदमी मूलत: अपने को मजनूँ मानता है। मुहब्बत के नाम पर मिट जाने वाला; जो मनुष्य को अपना प्यार नहीं दे सकते वे इसी पर इतराते है कि हम कुत्ते से इतनी मुहब्बत करते है।

वास्तव में मनुष्य है बड़ा अहम्मन्य प्राणी, और कुत्ते की स्वामिभक्ति का जो इतना बड़ा घटाटोप उसने खड़ा किया है, वह वास्तव मे उसकी अहम्मन्यता का ही प्रतिबिम्ब है। स्वामिभक्ति, अर्थात् मेरे प्रति भक्ति! कर्तव्यनिष्ठा, अर्थात् मेरे प्रति निष्ठा। अगर उसके अहं की पुष्टि उसके निकट इतना महत्त्व न रखती होती, तो क्या वह इस बात को अनदेखी कर सकता कि बुनियादी मूल्यो में स्वामि-भक्ति से कही अधिक महत्त्व स्वातंत्र्य-प्रेम का है? दया के दो टुकडो पर निरन्तर दुम हिलाते पीछे फिरने वाला कुत्ता महान् है, स्वामिभक्त है, क्योकि दुतकारने पर भी लौट आता है और तलुए चाटता है, और बरसों आपके इशारों पर हां-हजूर करने वाला तोता दुष्ट है, नाशुकरा है, क्योकि कभी भी मौका पाकर उड़ जाता है और फिर आपकी ओर कानी आँख नहीं देखता! क्यो साहब, आप ही क्या दुनिया के केन्द्र है कि आपके प्रति लगाव ही जीव मात्र के धर्म की कसौटी हो जाय? कुत्ते की दासत्व-स्वीकृति को आप आदर्श मानें, बिल्ली की निस्संगता को अकृतज्ञता, और तोते के स्वाधीनता-प्रेम को इतना हेय समझे कि विश्वासघाती को आप कहें तोताचश्म—कैसा अन्धेर है!

हम तो तोते की निष्ठा को चातक की निष्ठा से कम नही मानते। तोते को बन्दी रखिए, खिलाइये-पिलाइये, जैसा आप बुलायेंगे बोलेगा। एक दिन पिंजरे से निकल जाने दीजिए, बस फरंट हो जायेगा। फिर कहाँ का रोटी-चूरमा और कहाँ का मिट्ठूपन! सुखद से सुखद दासत्व भी जिसके स्वातन्त्र्य-प्रेम को न भरमा सके, वही तो स्वातन्त्र्य-निष्ठ है, नहीं तो थोड़ी-बहुत लपक-झपक तो साँकल पर बँधा पालतू कुत्ता भी कर लेता है।

और तोते की निष्ठा और भी स्पष्ट होकर हमारे सामने आती है जब हम देखते है कि तोता एक ओर अपना सोने का पिंजरा छोड़कर जाता है, दूसरी ओर

निश्चित मृत्यु के मुख में जाता है—क्योंकि जो एक बार बन्दी जीवन में रह चुका है, उसे फिर तोता-समुदाय स्वीकार नहीं करता, मार ही डालता है। यह जानते हुए भी कि एक बार दास बनकर रह चुकने के अपराध पर निश्चय ही मृत्यु-दंड मिलेगा, तोता सोने की कीलों के मोह में न पड़कर स्वातन्त्र्य का ही वरण करता है—क्या यही धर्म नहीं है : स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ?

वास्तव में मानव की अधिकतर मान्यताएँ—मूल्यों के सम्बन्ध में उसकी अवधारणाएँ—वर्गिक चिन्तन का परिणाम होती हैं—चिन्तन का नहीं तो भावनाओं का कह लीजिए। कुछ तो यह मानव की सहज दुर्बलता है कि वह कोटियों-श्रेणियों में सोचता है, कुछ इधर इसको मार्क्सीय विचारधारा ने दार्शनिक प्रामाणिकता दे दी है। यह प्रायः मान लिया जाता है कि ऐसा वर्गगत चिन्तन एक सीमा नहीं, एक विशेषता है। फलतः ऐसे संकीर्ण चिन्तन की प्रवृत्ति और उसका अभ्यास बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि उस चिन्तन का आरोप हम पशुओं पर भी करते हैं। पशु-जगत् में जातिवाद और जात-पाँतवाद का नहीं तो और क्या कारण हो सकता है ? जैसे सामन्त 'अभिजात' होते हैं—अंग्रेजी मुहावरे के अनुसार उनका रक्त नीला होता है—उसी प्रकार नस्ली अलसासी (अल्सेशियन) भी अभिजात होता है और शहर की गलियों में भटकने वाले वर्णसंकर की अपेक्षा 'उच्च'-कुलीन। आप कहेंगे कि यह अभिजातवाद तो डाक्टर मलान का जातिवाद है, मार्क्स का वर्गवाद तो नहीं ! और आप ठीक ही कहेंगे जहाँ तक अलसासी और अज्ञातकुल गली के कुत्तों की तुलना का प्रश्न है। लेकिन जात-पाँत मूलतः तो कर्मगत वर्गीकरण का ही जड़ीभूत रूप है न ? यही तो मार्क्सवाद भी मानता है कि कहारकुरमी का स्तर इसलिए छोटा माना गया कि ये कमकर थे, और क्षत्रिय-ब्राह्मण इसलिए ऊँचे रहे कि ये सम्पन्न और नकारे थे ?

वर्गों का आधार श्रम-सम्बन्ध है, यानी मालिक-चाकर के, काम देने और काम लेने वाले के सम्बन्ध, यही मानकर हम चलें तो कुत्ते-बिल्लियों के मामले में हम और भी दिलचस्प परिणामों पर पहुँचते हैं।

हमारे जैसे नाई-टहलुए, नौकर चाकर, भंगी-भिश्ती, सईस-खिदमतगार होते हैं—और हाँ, कुत्ते-बिल्ली आदि पालतू जानवर भी होते हैं—उसी प्रकार (अगर जैसा कि हमने कहा, शुद्ध श्रम-सम्बन्धों के आधार पर वर्ग-विभाजन करते हुए देखें तो) इन पालतू जानवरों के भी होते हैं। हम क्योंकि मानवों की भाषा बोलते हैं, और भाषा सामूहिक अहं की अभिव्यक्ति की प्रमुख माध्यम होने के नाते जिसकी भाषा होती है, उसकी नैतिक मान्यताओं और भावना-मूलक आग्रहों से बँधी होती है, इसलिए हमें इन सम्बन्धों पर कुत्ते या बिल्ली की दृष्टि से विचार करने में कठिनाई होना स्वाभाविक ही है। नहीं तो यह कहकर बताने की आवश्यकता न होती कि अच्छे खानदानी कुत्ते-बिल्ली के भी इसी प्रकार चाकर-टहलुए होते हैं;

सामन्तों के पीठमर्द होते थे तो बिल्लियों के भी कर्णकंडूयक होते हैं। और राजा के पीछे-पीछे उसका पल्ला उठाये चलने वाला कोई कचुकी होता है तो कुत्ते के पीछे-पीछे उसकी साँकल सँभाले चलने वाला भी कोई होता ही है। रानी का दामन पकड़कर चलना बड़े गौरव की बात समझी जाती है, कुत्तों की साँकल सँभाले जो लोग पार्क-बगीचों मे घूमते नज़र आते है कोई उनकी मुद्रा पर ध्यान दे तो यही समझने लगेगा कि वही मुख्य है और कुत्ता गौण। यह भी तो इसीलिए है कि देखने वाले भी मानव है, और वर्ग-चेतना के कारण एक कुत्ते का पिछलगुआ दूसरे कुत्ते के पिछलगुए को ही पहले देखता है, स्वयं कुत्ते को नहीं! हमारे ही निकट तो इस बात का महत्त्व होता है कि एक कुत्ते की साँकल पर कल्लू बेरा है, और दूसरे की साँकल पर छोटे डिपटी साहब—भले ही कल्लू बेरे के सामने जो कुत्ता हो वह कुक्कुर राजवंशी अलसासी या ग्रेट डेन हो, और डिपटी साहब के आगे निरा भुच्चर। स्वयं कुत्तों को इससे कोई मतलब नही होता, पार्क मे कुत्ता-कुतिया अपने सजातीय को ही पहले देखते है, उन्हीं से दुआ-सलाम करते है या गाली-गुफ्तार, उनके ज़ंजीर-बरदार उनके निकट कोई महत्त्व नहीं रखते!

इसीलिए हम मार्क्सवादियों के कायल है उन्होने यह बात स्पष्ट करके रख दी है कि असल में शब्दो का कोई अपना अर्थ नही होता. अर्थ केवल एक आरोप है, जो वर्ग-चेतना से अनुशासित होता है और मुख्यतया भावाग्रही होता है। जैसे हमारे सामाजिक सम्बन्ध हों, वैसा ही अर्थ हमे भाषा देती है—या हम भाषा को देते है, भाषा से निकालते है। शब्दार्थ-सम्बन्धी उनकी यह स्थापना इतनी महत्त्व-पूर्ण है कि इसका एक नया विज्ञान बन गया है—'सिमैटिक्स'; इसका हिन्दी पर्याय हम 'शब्दार्थ-विज्ञान' बताते; पर अर्थ तो अब स्थिर रहा नही, द्वन्द्व-सिद्धांत के अधीन चलनशील हो गया, इसलिए कहे 'शब्द-बीज-विज्ञान'। हर शब्द एक बीज है; और विज्ञान से पहले तो यह जिसका बीज हो वही फल होगा, जो आप बोएँगे वही आपको फलेगा, पर अब विज्ञान की बदौलत यह हुआ है कि बोवे सेहुड़ काटे ऊख। यह तो बूर्ज़ुआ विज्ञान का मताग्रह था कि एक जीवन में पाये हुए संस्कार वंश-परम्परा मे नही आ जाते—लाइसेंको ने वह सब बदल दिया है।

अब देखिए न : हम कहते है, 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।' कहने-कहने में हम इस बात की उपेक्षा कर गये कि हमारी बात ही हमारी भावना का खंडन कर रही है—भावना हम यह जगाना चाहते है कि कुत्ता कही का नही है, यद्यपि आरम्भ मे ही तथ्य यह माना है कि कुत्ता धोबी का है। जब वह धोबी का है, तब उसे इससे क्या कि वह घर का है या घाट का? वह तो धोबी का है ही। और ज़रा कहावत गढने वाले आदमी-बच्चे से यह पूछा जाय कि कुत्ते का धोबी आखिर कहाँका है, घर का कि घाट का? असल में चिडी-बल्ले की चिडिया की तरह इधर-उधर मारा-मारा तो वह फिरता है, लेकिन क्योंकि वह भी श्रमकर इन्सान है,

इसलिए हमने उसके अनाथत्व का आरोप कर दिया बेचारे कुत्ते पर, जो और जो कुछ हो या न हो, सम्बन्धकारक से अनुशासित अवश्य है !

जी नहीं, हम बहके नहीं ! यह तो वर्ग-गत चिन्तन का परिणाम ही है। क्योंकि एक बार बाँटकर देखने चले तो फिर बाँटने का अन्त नहीं, जिसे दो में बाँटा जा सकता है उसे चार में भी बांटा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक भाग को फिर दो में बाँटा जा सकता है। विश्लेषण-बुद्धि की यही मर्यादा है। हम बहुत दिनों तक स्वयं विश्लेषणवादी नहीं तो वैसे वादियों के कायल जरूर रहे, पर अन्त में समझ में आ गया कि प्याज को बहुत छीलने से अन्त मे हाथ कुछ नहीं आता, परत पर परत उतारते हम शून्य तक ही पहुँचते है। तब से हम समन्वयवादी हो गये है; परत पर परत चढाना ही ठीक मानने लगे है। और तब से तो हम चारों खाने चित पडे है जब से एक समन्वयवादी ने हमें यह बताते हुए, कि असल में भेद केवल बुद्धि-भेद है, वैसे सब-कुछ एक है, यह दृष्टान्त दिया कि विश्लेषणवादी अंग्रेज कहते है 'फ़ाइटिंग कैट्स एंड डॉग्स'—कुत्ते-बिल्लियों की तरह लड़ना; पर कुत्ते-बिल्ली दो नहीं है, मूलतः एक है : जिस आधार पर वे टिके है (यानी उनकी दुम) वह एकही है—दुम दोनो की कभी सीधी नहीं होती !

दृष्टिकोण

अगर मैंने अपने कमरे में टँगे हुए चित्रों को कभी सिर के बल खड़े होकर नहीं देखा, तो उसका कारण यह नही है कि आधुनिक चित्र-कला के प्रति ठीक दृष्टि-कोण रखना मैं नहीं चाहता; कारण केवल इतना है कि मुझे पहले से यही शिक्षा मिली कि कला को समझने के लिए उसे लगातार स्थिर दृष्टि से देखना चाहिए। अब मैं अगर लगातार शीर्षासन किये रह भी सकूँ, तो उस मुद्रा में दृष्टि स्थिर तो तभी हो सकती है जब आँखें बन्द हों। और आँखें बन्द करके ही कला को देखना हो, तो फिर यह भी क्यों न मान लिया जाय कि पैरों पर खड़े रहकर भी शीर्षा-सन हो सकता है ?

वैसे दृष्टिकोण बदलने से सारी दुनिया बदल जाती है, यह मैं मान लेने को बिल्कुल तैयार हूँ। दिल्ली की कुतुब मीनार के नीचे खड़े-खड़े मैंने कई बार सोचा है अगर इस इमारत के अन्दर सीढ़ियाँ न होती, और मैं शीर्षासन करके उसे ऊपर से नीचे तक देख सकता तो क्या वह एक बहुत गहरा कुआँ न जान पड़ता। मेरा मतलब है नीचे से ऊपर तक देखने से, क्योंकि मीनार को—यानी कुएँ को—ऊपर से नीचे तक देखना तब वास्तव मे नीचे से ऊपर को देखना होगा, या स्पष्ट करके कहूँ कि मैं अपनी दृष्टि से ऊपर से नीचे देखूँगा तो वास्तव मे नीचे से ऊपर देखूँगा—यानी अगर मान लूँ कि तब वह मीनार नहीं, कुआँ होगा तो उसे ऊपर से नीचे ही देख रहा हूँगा, क्योंकि मीनार का तला ही तो कुएँ की मुँडेर होगी। लेकिन सिर से पैरों की तरफ देखना है नीचे देखना ही—'ऊर्ध्व मूलमधः शाखा' में भी ऊर्ध्व ऊर्ध्व ही है, अधः अधः ही। और मैं जो कह गया 'अपनी दृष्टि से देखूँ'—क्या शीर्षासन करने से ही मेरी दृष्टि मेरी दृष्टि नहीं रहेगी ? मेरा अभि-प्राय है उस दृष्टि से, जो मेरी उस अवस्था में होगी—पर दृष्टि तो वही है, फिर से आरम्भ करूँ : मेरी दृष्टि की उस अवस्था से, जो मेरी उस अवस्था में होगी—पर मैं भी उलटा हूँ और मेरी दृष्टि भी, तब क्या दोनों पक्षों को विशेषण देना अनावश्यक नहीं हो जाता—जैसे दोहरा नकार सीधा स्वीकार हो जाता है ? (पर गणित में वैसा होता है, उक्ति के क्षेत्र में ऐसा सीधा परिणाम नही निकलता, और कहीं वह उक्ति स्त्री की हो तो उसका अर्थ कुछ भी हो सकता है !)

तो कुतुब मीनार मुझे मीनार दीखे या कुआँ, दृष्टि दोनों सूरतों में मेरी ही है, अर्थात् दृष्टि का कोई महत्त्व नहीं है, दृष्टिकोण का ही महत्त्व है। मुझे यह परिणाम बड़े महत्त्व का लगता है, भले ही आप कहें कि यह बात तो सब मानते हैं, इसे प्रमाणित करने के लिए हिन्दी के विचारक शिरोमणि जैनेन्द्रकुमार या उनके शिष्य 'अज्ञेय' की तर्क-शैली अपनाने की क्या आवश्यकता थी ? पहाड़ खोदकर चुहिया निकाली है—क्या पहाड़ खोदकर क्या चुहिया ! उन गुरु-शिष्य की बात नहीं जानता, मैं तो इस अवहेलना से बहुत संकुचित हो जाता; पर सोचती हूँ, वैसा क्यों ? यह भी तो दृष्टिकोण की ही बात है : पहाड़ खोदकर अगर हाथी निकलता, तो उसमें क्या चमत्कार होता—किसी चीज में से समान गुण या धर्म की चीज निकालने में क्या विशेषता है ? पहाड़ खोदा पर हाथी नहीं, निकाली (या न दीजिए मुझे निकालने का श्रेय, निकली सही) चुहिया—इस अप्रत्याशित विपर्यय में ही तो सारा चमत्कार है।

और असल में आप भी विरोध इस बात का नहीं कर रहे होंगे कि पहाड़ खोदकर चुहिया निकाली, न पहाड़ खोदना न चुहिया निकालना गलत बता रहे होंगे। क्योंकि जब दृष्टि नहीं, दृष्टिकोण ही महत्त्वपूर्ण है, तब खोज का भी और परिणाम का भी कोई महत्त्व नहीं रहा जाता, महत्त्व की बात हो जाती है पद्धति : पहाड़ खोदकर चुहिया निकाली सो तो निकाली, पर पहाड़ बुलडोजर से क्यों खोदा (या नहीं खोदा), सुनार की छेनी से क्यों नहीं (या क्यों) ? और चुहिया मृसदान में क्यों नहीं पकड़ी (या पकड़ी); और जब प्रदर्शित की तो पूँछ के बल क्यों लटकायी (या नहीं लटकायी) ?

अब आप देखिए कि जमीन गोल है। (यानी हम वैसा सुनते आये हैं, प्रत्यक्ष देखा यही है कि वह चपटी है, या अधिक से अधिक ऊबड़-खाबड़ है। पर ऐसा मुहावरा है—और मुहावरे का तो आधार ही है सत्य—बल्कि है समूह-गत सत्य, ...जो व्यक्ति-सत्य से बड़ा है।) तो अगर हम जमीन पर खड़े हैं, तो दूसरी ओर के लोग उससे लटकते हैं—उसके अधोभाग से, वह भी पैरों के बल। पर हम भी अपने को ज़मीन पर खड़ा मानते हैं, वे भी; और हम उन्हें, वे हमें भी। तब जो नीचे है वह ऊपर भी है, यानी दोनों ही कुछ नहीं है, नीचे का मतलब है पृथ्वी के केन्द्र की ओर, ऊपर का मतलब है उससे प्रतिकूल दिशा में—और केन्द्र एक ही है, प्रतिकूल दिशाएँ दो हो सकती हैं। एक केन्द्र की ओर हमारी तरफ से, एक दूसरी तरफ से। पर हम जहाँ खड़े हैं, वहाँ से पृथ्वी के केन्द्र की ओर दो दिशाएँ कैसे हो सकती हैं ? इस पहेली को समझाने के लिए हम गणित का आश्रय लेते हैं : केन्द्र बिन्दु है, इसलिए एक है, दिशा रेखा है इसलिए उसके दो छोर हैं, दो पक्ष हैं धन और ऋण; अर्थात् कोई भी दिशा क्योंकि एक दिशा है इसलिए वास्तव में दो दिशाएँ हैं। न मालूम इस तर्क को हम समझते हैं या नहीं, पर मान लेते

हैं। पर जहाँ तक 'ऊपर' और 'नीचे' का प्रश्न है, इसमें निहितार्थ और भी है। अगर केन्द्र की ओर को नीचे है, और केन्द्र से परे को ऊपर, तो वह एक दिशा दो ही दिशाएँ नहीं सभी दिशाएँ है; 'ऊपर' 'नीचे' को घेरे हुए है और 'बाहर' का पर्यायवाची है, जैसे 'नीचे' 'भीतर' का पर्यायवाची है।

अर्थात् ? अर्थात्, ऊर्ध्वमुख होना बहिर्मुख होना होगा, और अन्तर्मुख होना अधोमुख होना। क्या यह परिणाम हमें मान्य है ? पर जो हम मानते है, उससे अनिवार्यतः जो परिणाम निकलता है, उसे कैसे अमान्य कर सकते है ?

फिर यह परिणाम प्रगति का—या कम से कम प्रगतिवाद का—पोषक है। उसका तो सिद्धान्त ही है कि जो अन्तर्मुख है वह अधोमुख है, जो बहिर्मुख है वह ऊर्ध्वमुख; यह उसकी सामाजिकता की कसौटी है। और सामाजिकता ही शिवता की कसौटी है—कसौटी क्या, यह तो उसका सहज परिणाम है—बहिर्मुखता ही ऊर्ध्वमुखता है यानी शिवोन्मुखता। इसके बाद यह कहने का भी अवसर नही मिलेगा कि यह बात केवल पृथ्वी को लेकर कही गयी है, सामाजिक क्षेत्र में लागू नहीं हो सकती क्योंकि परिभाषाएँ दूसरी हो जायेंगी—हाँ, साहब, पृथ्वी को लेकर ही तो हम बात कर रहे हैं, पार्थिव शिव से ही हमारा मतलब है, नहीं तो क्या आध्यात्मिक कलाबाज़ियों में हमारी कोई दिलचस्पी है ? समाज से हमारा मतलब पार्थिव समाज से ही है, नन्दन-विहारी देवता आपको मुबारक हों—देवता और उनकी अप्सराएँ, क्योंकि हम जानते है कि आपकी सारी दिलचस्पी अप्सराओं मे ही है; क्यों है यह भी हम जानते हैं, हमारे पास अप्सराओं की और प्रत्येक के रंगीन प्रलोभनों की पूरी सूची मौजूद है !

तर्क प्रगति के पक्ष मे चला जाय, तो यह अच्छा ही है न। किसी अंग्रेज तार्किक ने अपनी बात के लिए दलील देकर उसके समर्थन में कहा है कि वह इसलिए अच्छी है कि वह 'एलिगेंट' (सुष्ठु) है। एलिगैंस या सौष्ठव तो मध्यवर्गीय प्रतिमान है, प्रगति को उससे क्या मतलब है, हनु पर हथौड़े की चोट मे सौष्ठव कौन देखता है; पर विरोधी की दलील ही स्वयं उसे चित कर दे तो इससे अधिक एलिगेंट और कौन-सी विजय हो सकती है !

जैक लंडन ने कहीं लिखा था कि तर्क में प्रतिपक्षी को हराने के लिए उसकी बात पर ध्यान देना आवश्यक नहीं है. यह सिद्ध कर देना अधिक उपादेय है कि उसका कोई निकट सम्बन्धी विगत बुधवार को शराब के नशे में धुत् था। बात बहुत ठीक है, क्योंकि प्रश्न असल में दृष्टि का नहीं, दृष्टिकोण का है। और दृष्टिकोण के बारे में एक और बात कहना चाहता हूँ, जो आपको (और मुझे भी) चाहे चौंका दे, विज्ञान की दृष्टि (या दृष्टिकोण) से बिलकुल ठीक है। दो व्यक्तियों की दृष्टि यदि एक ही दिशा में देखे तो एक ही चीज नहीं देखेगी, यानी अगर दो व्यक्तियों को हू-बहू एक ही चीज़ दीखे तो मानना होगा कि उनकी देखने

की दिशा मे अंतर है—क्योंकि दिशा एक होती तो उनकी दृष्टियाँ समानान्तर जातीं, एक बिन्दु पर न आती; एक विन्दु पर मिलना ही दिशा-भेद का प्रमाण है अर्थात् अगर दो व्यक्तियों का किसी विषय पर मतैक्य है तो यही प्रमाण है कि उनका दृष्टिकोण भिन्न है, और दृष्टिकोण एक हो तो मतभेद होगा ही।

यह कैसा विरोधाभास है ? या कि नही है—केवल, अपना-अपना दृष्टिकोण है ? कहा है, 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' जिसका अर्थ हमारे एक बन्धु करते है कि मूंड़-मुँड़ाने पर मति भिन्ना गयी—पर संस्कृत वाले बात समझते थे : मुण्ड अलग होंगे तो मति एक हो ही कैसे सकती है ? पर दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि 'सौ सुजान एक मत'। तो क्या यह समझा जाय कि सुजानों के मुण्ड नही होते ? या कि यही कि उनके सौ दृष्टिकोण अलग-अलग होते होगे ? मुझे तो दूसरी ही सम्भावना समीचीन मालूम होती है, और मै तो कहूँगा कि इससे भी प्रगतिवाद का समर्थन ही होता है, सौ अलग-अलग दृष्टिकोण वाले व्यक्तियो का भी एक मत हो सकता है, मुझे तो इसीमें प्रगति की आशा दीखती है। इतना ही नहीं, इसमें यह भी निहित है कि अलग-अलग दृष्टिकोण रखते हुए भी वे एकमत न केवल हो सकें बल्कि स्वतन्त्र इच्छा से हों, यही तो प्रत्येक को मुण्ड से सुजान बनाता है। यह स्वतन्त्र इच्छा ही तो सुजान होने की कसौटी है—नहीं तो मूँडते-मूँड़ते मति भिन्ना जायेगी—मूँडने वाले की भी और और मुंड़ने वाले की भी, भले ही मुंड़ने वाले पहले से गंजे सर्वहारा क्यो न हों, और मुँडाई उस्तुरे की बजाय हँसिया से क्यों न हो।

असल मे सारी बात केवल दृष्टिकोण की है, बाकी सब ढकोसला है ! अब यह मुँड़ाई की बात ही ले लीजिए—कहते है 'धेले की बुढ़िया टका सिर मुंड़ाई'; हम उन लोगों मे से हों जो पागल की गालियाँ सुनकर उससे गूढ़ अर्थ निकाला करते है कि आज सट्टे के बाज़ार मे गेहूँ की मन्दी रहेगी या तिलहन तेज़ी पर होंगे, तो इसका भी गूढ़ार्थ खोजने लगेंगे—अर्थात् एक धेले की पूँजी पर टका मुनाफ़ा, यानी सीधे ४०० प्रतिशत का ब्लैक किया जाय; एक दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि पूँजी वाले को धेला मुनाफ़ा, कमकरों को टका मजूरी—यानी मुनाफ़ा मज़दूरों में भी बँटना चाहिए। पर गूढ़ अर्थ न भी लगायें, तो सीधा-सीधा और श्रेष्ठ अर्थ यह निकलता है कि बुढ़िया के धेले के बाल भी मूंड़ लो, और टका मुंड़ाई लो—मज़दूरी तो लो ही, पूँजी भी छीन लो।

और यही स्वस्थ दृष्टिकोण है। यह दूसरी बात है कि इसका शीर्षासन से—और चित्रकला से—कोई सम्बन्ध न हो। पर वह सम्बन्ध है कि नही, यह भी तो दृष्टिकोण की बात है। क्योंकि यह स्पष्ट ही राजनीति की बात तो है ही, और हमारे प्रधान मन्त्री—ऐसा मैंने कहीं एक अंग्रेजी लेख में पढा था—जब कभी किसी महत्त्वपूर्ण राजनैतिक विषय पर वक्तव्य देते है तो पहले शीर्षासन लगाकर

उस समस्या पर विचार करते है। और जिस व्यक्ति ने ऐसा लिखा है, उसने यह भी लिखा है कि वह स्वयं भी अपने प्रभावशाली दैनिक पत्र के महत्त्वपूर्ण राजनैतिक सम्पादकीय लेखो का ढाँचा भी इसी मुद्रा में तैयार करता है।

रही चित्रकला की बात। मेरे एक पडोसी है जिन्हे आधुनिक चित्रकला का समीक्षक बनने की धुन है, वह आधुनिक चित्रकारो के चित्र सामने रखकर आँखों को पेच की तरह कसकर घटो देखा करते है। एक बार मैंने लक्ष्य किया, एक चित्र को बहुत देर तक देखते रहकर उन्होंने फिर उलटाकर रखा और देखते रहे। थोड़ी देर बाद घूमकर उन्होने झुककर टाँगो के बीच मे सिर करके उसे देखना शुरू किया। फिर सीधे होकर उन्होने सिर हिलाया, मानों चित्र का अर्थ समझ गये हों। मैंने सोचा, अगर चित्र को उलटा रखकर इन्होंने उलटे होकर उसे देखा है, तो स्पष्ट ही सीधा रखकर उसका अर्थ जान सकते थे, मैंने जाकर चित्र सीधा कर दिया और पूछा, "अब इसका अर्थ मुझे समझा दीजिए।" लेकिन उन्होने मुझे ऐसे देखा, जैसे मैं कोई जगली होऊं। उनकी उस दृष्टि से मै लज्जित हो गया, मुझे लगा कि मुझसे बहुत बड़ी भूल हो गयी है। तब से मैं यह करता हूँ कि आधुनिक चित्र का मुँह दीवार की ओर फेरकर चित्र की पीठ की तरफ पीठ मोड़कर खडा हो जाता हूं, इस दुहरे क्रम मे धन परिणाम मिल सकता है या नही इस पर आपका दृष्टिकोण भिन्न भी हो सकता है, पर मुझे तो घनी तृप्ति मिलती है।

आपको मेरी बातों मे रस नही आता ? 'रसौ वै सः' मेरी बात का रस बड़ा वैसा है—यानी जरा तुर्शी पर, जरा तल्ख और अगर यह मजाक आपको फ्लैट लगे, तो मेरा अनुरोध है, इस निबन्ध को आप लेटकर पढिए : यह खड़ी बोली मेरी मातृभाषा नहीं है, मैंने नयी-नयी सीखी है। तब कदाचित् आपका दृष्टिकोण अधिक उदार हो जाय : और जैसाकि मै कई बार कह चुका, सारी बात दृष्टिकोण की है।

सभ्यता की न्यामतें

पहलू मे दिल का जितना शोर सुनते है, उससे कही अधिक गली में सभ्यता की न्यामतो का शोर सुना जाता है, कम-से-कम मैं सुनता हूं। वास्तव मे यह तुलना ही ठीक नहीं है, क्योकि मैं तो सुनता ही हूँ केवल सभ्यता का शोर : दिल का तो कभी सुनता नहीं, कभी सुनता हूँ तो उन्ही मौको पर जब सभ्यता का तकाज़ा होता है कि अमुक कुछ करूँ जो मुझे आता नही, और उस किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता मे भला दिल का शोर सुनने की फुर्सत किसको होती है ? मतलब यह कि सभ्यता का शोर बहुत है, और उसकी चिराई तो नही हो सकती, पर अगर भीतर देख सकते तो शायद उसमे वह बदनाम 'कतरए ख़ूँ' भी न निकलता जो दिल से निश्चय ही निकलता है, फिर वह दिल चाहे कैसे ही थोड-दिले आदमी का हो, चाहे चिड़ी-दिल का हो।

सभ्यता की ये न्यामते है क्या ? यह सवाल पूछने पर शायद मै बिल्कुल ही बर्बर समझ लिया जाऊँगा। (ऐसा तर्क भी सभ्यता की न्यामतों में से एक है, लेकिन इस बात को अभी छोड दें।) बर्बर आर्यो के आ बसने से पहले यहाँ जो अबर्बर अनार्य रहते थे, मेरी परम्परा उन तक जाती है। लेकिन देश से खदेड़ दिये जाकर शायद मेरे पूर्वज केवल संस्कृत ही रह गये, सभ्य रहने की सुविधा (लाचारी) उन्हे नहीं हुई।

फ्रांसीसी लेखक पियेर लुई की एक कहानी है। कोई फरिश्ता स्वर्ग से उतर कर किसी आधुनिक सभ्य युवक के कमरे में आता है। फरिश्ते उभयलिंगी होते है, इसलिए आता है, आती है, दोनों कहा जा सकता है। लेकिन पियेर लुई का फरिश्ता स्त्री है। (फरिश्ता को स्त्रीलिग-वाची कैसे मानें ? समझ लीजिए कि यह दाक्षिणात्य एक तो आकारान्त के प्रमाण पर चल रहा है, दूसरे व्याकरण बिहार से पढ़कर आया है।) यह फरिश्ता युवक से पूछती है कि हजारों वर्ष की सभ्यता ने कौनसे नये सुख का आविष्कार किया है ? युवक कई उत्तर सोचता है, लेकिन कोई सन्तोषजनक नहीं है। तब वह सिगरेट सुलगाकर सोचने बैठ जाता है। फरिश्ता ने सिगरेट पहले नहीं देखी, वह पूछती है, यह क्या चीज़ है ? युवक उसे भी एक सिगरेट देता है। सिगरेट पीते-पीते फरिश्ता के चेहरे पर एक नये,

अपरिचित अभूतपूर्व सुख का प्रकाश छा जाता है। यही कहानी समाप्त होती है। यानी सभ्यता ने नये सुख के नाम पर एक सिगरेट का आविष्कार किया है, बस!

कहानी तो ठीक है। लेकिन क्या सिगरेट का सुख भी कोई सुख है? लत पड़ जाने की बात दूसरी है, लेकिन आरम्भ में तो धूम्रपान धुएँ के दमघोट सुख के लिए नहीं होता। बल्कि हमारा तो अनुमान है कि दूसरों के धुएँ से झुँझलाकर ही लोग सिगरेट पीना शुरू करते होंगे। दूसरों के धुएँ की बदबू से दम घुटता रहे, इससे अच्छा है कि अपना इंजन आप सुलगा लें, मरना ही हो तो सूरमा चार को मार कर मरे! हमारा तो यही ख्याल है कि सभ्यता की दूसरी न्यामतों का उपयोग भी दूसरों द्वारा उसी न्यामत के समान उपयोग से बचने के लिए होता है। बल्कि चाहे तो सभ्यता की न्यामत की परिभाषा ही इस आधार पर की जा सकती है। अब रेडियो को ही ले लीजिए। कोई क्या इसलिए रेडियो लगाता है कि वह रेडियो सुनना चाहता है? हमारी गली में आप किसी भी घर में, किसी भी कमरे में जाइये, एकाधिक पड़ोसी के घर से आप रेडियो का शोर सुन सकते हैं—वह रुआँसा शोर जिसे रेडियो के 'उद्घोषक' 'स्वर-तरंग,' 'संगीत-लहरी', 'स्वर-मालिका' आदि विभिन्न लुभावने नामों से अभिहित करते हैं—या आप कमरे से निकलकर गली में एक सिरे से दूसरे सिरे तक निकल जाइये, इधर के पनवाड़ी से लेकर उधर के कोयलेवाले, हलवाई और बाल-कटाई के सैलून तक आप वही शोर होता हुआ पा सकते हैं। एक दूकान से शोर सुनते हुए आप आगे बढ़े चले जाइये, थोड़ी दूर जाकर जैसे ही आप समझने लगेंगे कि शोर पीछे रह चला, वैसे ही वह किसी रहस्यपूर्ण ढंग से लपककर आगे जा पहुंचता है और आगे से आने लगता है। सुना है कि मनुष्य अपने भीतर के डर से ही अनेक डरावने रूप खड़े कर लेता है, शायद भीतर की विरक्ति बाहर नाना विरक्तिकर शब्द भी उत्पन्न कर सकती है। या कि मैसूर सरकार ने इसका नाम ठीक ही रखा है 'आकाशवाणी'—जहाँ तक आकाश है वहाँ तक यह वाणी भेदती चली जायगी! लेकिन फिर भी आप हैं कि अपने घर में रेडियो लगाते हैं और ठीक वही शोर, जो चारों तरफ़ से आप पर बरस रहा है, आप भी पैदा करने लगते हैं, और चारों तरफ़ बरसाने लगते हैं! बाहर से वह शोर आपको मुफ्त मिल सकता है—शोर ही मुफ्त मिल सकता है, शोर से निस्तार नहीं—जिसे आप पैसा खर्च करके और लायसेंस लेकर पैदा करते हैं! आखिर क्यों? हमें उस विदेशी की बात याद आती है जिसने अपने पड़ोसी की बाँसुरी से विरक्त होकर स्वयं एक सैक्सोफोन खरीदा था और प्रसन्न होकर कहा करता था कि जब से सैक्सोफोन सीखने लगा हूँ तब से पड़ोसी की बाँसुरी का शोर सुनाई देना बन्द हो गया है।

एक और भी कहानी याद आती है। एक बार कहीं डाक-बँगले में ठहरने का अवसर हुआ था। पास के कमरे में एक पति-पत्नी टिके थे, उनसे परिचय हो गया

और बातचीत होती रही। दोनों अधेड़ उम्र के थे, पुरुष बड़े खुशमिजाज और बातूनी, लेकिन रात के नौ बजे ही दोनों की बातचीत कुछ अनमनी होने लगी और उनके चेहरे पर कुछ उद्वेग-सा लक्षित होने लगा मानो दोनो जल्दी से शयनागार की ओर जाना चाहते है। इस उम्र में भी शयनागार का इतना आकर्षण दोनों मे है यह सोचकर मन ही मन दम्पति के भाग्य को सराहते हुए मैंने विदा ले ली और अपने कमरे मे चला गया। थोड़ी देर बाद पड़ोस के कमरे से खर्राटों का शब्द आकर मेरे कमरे का आकाश भरने लगा, रात का अधिकाश मैं वही सुनता रहा। ऐसे मन्द्र गम्भीर और प्रभावशाली खर्राटे मैने पहले कभी नही सुने थे, न उसके बाद कभी सुने या भविष्य में कभी सुनूंगा ही। पति-पत्नी के उद्वेग का सही कारण सवेरे मालूम हुआ। पडोसी भद्र पुरुष ने मुझसे पूछा कि उनके खर्राटो से मुझे कष्ट तो नही हुआ? मै शिष्टता के नाते बहुत प्रयास करके भी जब अपने चेहरे पर मुस्कान लाकर यह न कह सका कि "नही-नही, बिशेष नही", तब उन्होने बताया कि वे दोनों स्वय भी एक-दूसरे के खर्राटो से परेशान है, और रात को दोनो मे होड़ रहती है कि कौन पहले सो जाता है। क्योंकि जो पहले सो जाय वही सो सकता है, दूसरा अपने साथी के खर्राटे सुनता रह जाता है।

पढ़ा था कि सभ्यता और कुछ नही, सह-जीवन की कला है। लेकिन सह-जीवन क्या है और कला किसे कहते है? व्यवहार मे तो यही देखता हूँ कि येन केन प्रकारेण अपने पड़ोसी से बचा जाय, और कला का अर्थ यह है कि बचने के नये से नये और अच्छे से अच्छे साधन बरते जाये। और सभ्यता के नये फितूर साम्य-वाद के नाम पर शायद यह भी आवश्यक है कि सब लोग उन्ही-उन्ही साधनों को उसी ढंग से बरते! सभ्यता सह-जीवन की कला इसी अर्थ मे है कि वह सह-जीवन से कलापूर्ण पलायन है। ईसा ने कभी इस ढग की प्रार्थना को गर्हित बताया था कि 'हे ईश्वर, मै तेरा धन्यवाद करता हूं कि तूने मुझे मेरे पडोसी जैसा नहीं बनाया,' आज की सभ्यता मे व्यक्ति अपने को अपने पड़ोसी से भिन्न तो नही मानता पर उसकी सभ्य प्रार्थना का रूप यह है कि 'हे ईश्वर, मुझे मेरे जैसे पड़ोसियो से बचा।'

हमें तो पड़ोसी अच्छे लगते है। यह ठीक है कि अमुक किसी स्थिति में मै पड़ोसियों को गालियाँ देता हूँ। लेकिन एक तो गाली भी सभ्यता की ही न्यामत है; असभ्य लोग मार-पीट तो कर सकते है, लेकिन गाली नही देते—असभ्य-भाषियों मे गाली होती ही नही। दूसरे वह गाली सभ्य को गाली है, मानव को नहीं। शायद मैं असभ्य हूँ—यह तो मैंने आरम्भ मे ही कहा है कि मै बर्बरों की नही, अबर्बरों की परम्परा में हूँ और सभ्यता की मुझे वैसे जरूरत नही पड़ी। गाली का सभ्यीकरण करके जिसको-तिसको असभ्य घोषित करने की आवश्यकता मुझको नहीं है जैसे बंगाली जब पड़ोसी के प्रति अवज्ञा के साथ-साथ अपनी भद्रता

और शालीनता की घोषणा करना चाहता है तो पड़ोसी को गाली देता है, "की औशोब्भो।"

बात जो कहना चाहता था, वह नही कह पाया। हो सकता है कि कहना ही न चाहता रहा होऊँ। असल में सन्देह होता है कि यह कहना चाहना भी सभ्यता की एक न्यामत है। पुराने ज़माने मे चालीस-पचास वर्ष में कभी कोई एक वाक्य कहकर लोग ऋषि हो जाते थे, और वह एक वाक्य भी उनका कहा हुआ नही होता था। लेकिन आज हर बात पर स्टेटमेंट होते है, सम्मतियाँ दी जाती है, आलोचना होती है। मैं जो लिख रहा हूँ इसपर भी आलोचना होगी, विभिन्न मतों का प्रतिपादन होगा। यह भी हो सकता है कि वह सब हुआ-हवाया रखा हो, बस उसके प्रकाशन की देर हो, इधर यह छपा कि उसपर सम्मतियाँ चस्पाँ हो गयीं। सुना है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अन्तिम बीमारी के समय केन्द्रीय आकाशवाणी ने कई प्रमुख व्यक्तियों से शोकोद्‌गार पहले से लिखाकर रेकार्ड भरा रखे थे!

लेकिन वह जो हो, हमने तो अपनी बात सीधे ढग से कह दी। कोई न सुने तो गिला नहीं और कोई सुनकर अनसुनी कर दे तो भी हम खुश है। सभ्यता की असहिष्णुता और अनुदारता हम अभी सीखे नही, पंगत मे अव्वल तो हमारा बैठने का आग्रह नही है, दूसरे बैठने पर कभी उठा भी दिये गये तो हमें नहीं खलेगा—ऐसे दुमदारो से हम लंढूरे भले!

नखरे में गर्म मसाला

गर्म मसाले मे जो मसाले पड़ते है, उनमे से कोई भी उत्तर-भारत मे या हिन्दी प्रदेश मे नही होता। इसके बावजूद कैसे गर्म मसाला हिन्दी जबान पर यों हावी हो गया, यह शोध का विषय है। (विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग ध्यान दे !) कारण क्या उत्तर वालो का उपनिवेशवाद रहा कि दक्षिण की चीज पर यो हाथ (या जबान ?) साफ किया, या कि यह एक और प्रमाण है कि उपनिविष्ट की सस्कृति उपनिवेशी पर छा जाती है ? जो भी हो, हमे कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नही करना है; हम इसी से सन्तोष कर लेगे कि मसाल-दोसे और रसम्-मसाला का चलन दिल्ली मे बढ़ता जा रहा है। दिल्ली का मशहूर चटखारा अब दक्षिणी मसाले का चटखारा रह गया है !

यो तो हम राजनीति की बात भी कह सकते—खासकर इन दिनों जबकि हमारे राष्ट्रपति भी दक्षिणी है, हमारे उपराष्ट्रपति भी दक्षिण की गवर्नरी से ही पधारे गये, और हमारी प्रधाना भी दक्षिणी राजनीतिको के सहारे हीअपना शतरज खेलती है। (इससे क्या कि उनकी 'फीले की किस्त' भी दक्षिणी ही 'बेताज बादशाह' को रही ? शतरज का खेल ही दक्षिणी रानी मण्डोदरी ने दक्षिणी राजा रावण को बहलाने के लिए ईजाद किया था; उसके मोहरे दक्षिणी हो तो क्या मुज़ायका ? इतना जरूर पूछा जा सकता है कि इस दक्षिणी खेल मे तब विहारी फ़ीला क्या कर रहा है ? 'नलिनी गजमुज्जहार' ?)

भटक गये। भटक क्या गये, घर आ गये जबकि निकले थे ज़रा मटरगश्ती को। सुबह का भटका शाम को ही घर आये, तभी उसे भटका नही मानते—सुबह निकलते-न-निकलते वह घर आ रहे तो निस्सन्देह उसे असाध्य भटकैत मानना होगा ! हम तनिक अटके थे कि 'भटकुवा' लिखे या कि 'भटक्कड़', पर क्योकि हमारा भटकना सदा ललकार के साथ आरम्भ होता है—आरम्भशूरा: खलु वयम् —इसलिए अपने को भटकैत कहना ही ठीक जँचा। शब्द की लाठी के फिकैत समझे जाने मे अपने को आपत्ति नहीं। और अपने को भटकुवा जो समझें,समझे; हमारी-उनकी जोत नहीं है।

बात मसाले की हो रही थी, वह भी गर्म मसाले की। हम कहना यह चाह

रहे थे कि उत्तर में गर्म मसाला न होने पर भी—या शायद न होने के कारण ही? —किसी रूपसी के लीला-हाव की प्रशंसा मे जब उनका बातों का मसाला चुक जाता है तब वह यही कह पाते है कि 'तेरे नखरे मे गर्म मसाला'! अगर गर्म मसाला ही नखरे की श्रेष्ठता की पहचान है, तब तो दक्षिण हर बार उत्तर पर जयी होगा! यह जय पाने की बात केवल आज का राजनैतिक अवसरवाद नही है; सच बात तो यह है कि प्राचीन काल से ही जय-यात्राओं और अभियानों के मूल मे गर्म मसाले की खोज रही है। मसाला शब्द ही लीजिए; अरबी का यह शब्द कैसे यहाँ आकर ऐसा छा गया? इसलिए कि अरबी समुद्री लुटेरे मसाले की खोज में ही यहाँ आये। यहाँ का 'कोमल मलय समीर' मदिर 'लवगलता-परिशीलन'—ललित न रहा होता, तो अरब सागरिक हूर-परियों की खोज में सैरे-बहिश्त के लिए ही सरगर्मी दिखाते रहते, भारत के तट की ओर आकृष्ट न होते! यहाँ के मसालों से परिचित हो जाने के बाद ही उनकी नजर बदली, और उनके कारनामो से पश्चिमी एशिया का नक्शा भी बदला। और तब से लेकर बीसवीं सदी मे आणविक धातुओं की दौड़ तक नही तो कम से कम उन्नीसवी सदी की खनिज तेल की होड़ तक सारी साहस-यात्राएँ और राज्य-प्रसार की सब चाले मूलतः मसालों को हथियाने का ही चक्कर रही है।

पाठक शायद सोचे कि यह दक्षिणी यो ही मसालेदार बात कर रहा है; तथ्यो की कमी में मुहावरे का नमक-मिर्च लगाकर बाते परोस रहा है। पर यह इतिहास-दर्शन वास्तव में तर्क-पुष्ट है: इसकी उपेक्षा इसकी आत्यन्तिक कमजोरी नहीं, आज के इतिहासकारों का पूर्वग्रह है। पश्चिम के इतिहासकार हमेशा से पक्षधर रहे; और उससे मुक्ति की हल्की-सी सम्भावना बनते न बनते मार्क्स की कृपा से एक नया, विकटतर ऐतिहासिक आग्रह संसार पर छा गया। और हमारे अपने इतिहासकारों को 'माडर्न' बनने का ऐसा मोह है कि उन्हे एक न एक की नकल ज़रूरी जान पड़ने लगती है—या तो 'पश्चिमी' पश्चिम की प्रच्छन्न औपनिवेशिक दृष्टि की, या फिर 'पूर्वी' पश्चिम की मार्क्सीय दृष्टि की, जिसका 'एंटिकालोनियल' आग्रह भी है तो प्रतिलोम उपनिवेशवाद ही। इस बात को सब भूल जाते हैं कि आज आधुनिकता की बुनियाद पुरातत्त्व पर ही खड़ी हो सकती है—इतिहास मे तो दूसरा उपाय ही नहीं है।

और पुरातत्त्वज्ञ बताते है कि मांस में और नही तो पत्ती के मसाले का प्रयोग कम-से-कम पाँच हज़ार साल पुराना है; बुद्ध से प्रायः दो हज़ार वर्ष पहले का एक अस्सुर अधिलेख उस जाति के इस विश्वास का प्रमाण देता है कि उनके देवताओं ने सृष्टि से पहले मसालेदार सुरा का पान किया था। और मसालेदार सुरा का उल्लेख उत्तम पुष्ट प्रमाण न माना जाय, तो यहूदी धर्मग्रंथ के इस प्रमाण की तो किसी तरह काट नही हो सकती कि—ईसा से

१९२० वर्ष पहले—रंगीन कंथीवाले यूसुफ को उसके भाइयों ने मसाले के सौदागर के हाथ बेच दिया था। सच बात यह है कि बाइबिल का प्राचीनतर इतिहास खण्ड मसालों के उल्लेख से भरा पड़ा है, पर यह तो उल्लेख मात्र की नहीं घटना-तिथि की बात है! इससे भी महत्त्वपूर्ण एक घटना के सन्दर्भ में मसालों का उल्लेख है। युसूफ की कई पीढ़ियों बाद, मिस्र में फ़राओन के उत्पीड़न से इस्राइली जाति ने जब सामूहिक पलायन किया, तब बोरिया-बँधना के नाम पर और क्या वह ले जा सके, या नहीं ले जा सके इसका तो पता नहीं चलता—इतिहासकार ने उल्लेख नहीं किया, इसका अर्थ यही समझना चाहिए कि कुछ नहीं ले जा सके, यह देखते हुए और भी कि एक अपवाद का उल्लेख वहाँ मिलता है—पर इस्राइल की सन्तान 'मुख्य मसाले' ले जाना नहीं भूली! मसालों के स्पर्श के बिना कदाचित् वह अचरज घटना न होती जिसमें सागर इस्राइलियों के लिए राह छोड़कर हट गया था पर मिस्रियों को डुबाने के लिए फिर उमड़ आया। मिस्री लोग मसालों के प्रयोग से अच्छी तरह परिचित थे—बल्कि उन्हीं के हाथ में तो व्यापार था—लेकिन इस्राइलियों का पीछा करते हुए सैनिकों को शायद अपने साथ मसाले की गाँठ रखने की सुध न रही होगी! तभी तो कहते हैं कि जब मौत आती है तो होश पहले मारी जाती है! मसालों के चमत्कार की बात हम हँसी में नहीं कह रहे हैं; इस्राइली अवश्य ही उन्हें इतना महत्त्व देते होंगे। क्योंकि मिस्र से भागकर सैनाई में शरण लेने के बाद, उनके क्षुधा-संकट का निवारण करने के लिए हज़रत मूसा पर अनुग्रह करके मालिक ने साँझ को बटेर और सबेर को रोटी तो बरसायी, मगर मसाले का उल्लेख ग्रंथ में नहीं है: बटेर भूनने वालों को मसाले निस्सन्देह अपने ही उद्यम या अपनी दूरदर्शिता से सुलभ रहे होंगे। मिस्री (और उनके पीछे-पीछे यूनानी) तो अपने औषधि-विज्ञान के ग्रंथों में ही धनिये, जीरे, तिल और केसर का उल्लेख करके रह गये। हाँ यूनानियों को इतनी समझ जरूर थी कि खेलों में विजय पानेवाले अपने मल्लों को तेजपात के किरीट गूँथ देते थे। यह कहना काफी नहीं है कि तेजपात अपोलो का पौधा था — बजैया और छैले अपोलो को भला दौड़ और सूरमाई के खेलों से क्या मतलब था? तेज़ी में तो उसका भाई हर्मीस कहीं तेज़ था — और यूनानी देववंश में ओषधि-पति भी तो अपोलो नहीं, हर्मीस होता है।

बात मूलतः नखरे की थी—या होने की थी — पर मसाले में खो गयी; मसालेदार बात का अक्सर यही हश्र होता है। पर 'नखरे में गर्म मसाला' मुहावरे की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति भी बाइबल की एक पुस्तक से ही होती है। ईसा से प्रायः एक हजार वर्ष पहले—या बिलकुल सही तारीख चाहिए तो ९९२ वर्ष पहले—परम सुन्दरी रानी शीबा जब परम ज्ञानी लेकिन उतने ही रंगीले बादशाह सालोमन के दरबार में आयी तो अपने साथ 'कई ऊँटों पर मसाले' लादकर लायी। सोना और हीरे-जवाहरात भी वह लायी थी, पर मुख्य उपहार मसाले ही थे: सोना और रत्न

तो सालोमन के पास पहले ही पर्याप्त थे; और केवल रूप पर भरोसा रानी को कदाचित् नहीं हुआ—बादशाह की ख्याति रूप-व्यसनी की थी तो क्या, सयाना भी तो उसे माना जाता था !

सोना-चाँदी, हीरे-जवाहर और मसालों का अपार भंडार बादशाह को देकर रानी लौट गयी। बाइबल के वृत्तान्त का कहना है कि 'उतना प्रचुर मसाला फिर कभी नहीं जुटा जितना शीबा की रानी ने सालोमन बादशाह को दिया।' इस बात को शब्दशः लिया जाय, या उसका प्रतीकार्थ लिया जाय—या कि दोनों ही सही होंगे ? क्योंकि 'संसार का सबसे धनी और सबसे ज्ञानी राजा' भी जब डगमगाया तो किसी कारण नहीं; 'नखरे में गर्म मसाले' का जो चस्का रानी शीबा पहचान कर गयी थी—या कि आयी ही थी पहचान कर ?—उसी के कारण ! शीबा से भेंट के प्रकरण में बादशाह की लम्बी प्रशस्ति के बाद वृत्तकार का स्वर एकाएक बदलता है : "लेकिन बादशाह सालोमन ने अनेक विचित्र नारियों से प्रेम किया... और उसकी सात सौ पत्नियाँ थीं, राजकुमारियाँ; और तीन सौ रक्षिताएँ : और इन्होंने उसका दिल बदल दिया..."

लेकिन सालोमन का इतिहास पूरा बताना हमारा लक्ष्य नहीं; जितना प्रासंगिक था बता दिया गया।

दरबार से गर्म मसाले का सम्बन्ध केवल नखरे या नखरेवालियो का नही था, बल्कि कभी तो नखरा दूसरी तरफ से होता था ! अब जैसे ईसापूर्व चीनी सम्राट् को कोई दरबारी बिना मुँह में लौंग-मसाला भरे सम्बोधन नही कर सकता था। राज-व्यवहार के इतिहासकार ने यह तो बताया है; इस विचित्र आज्ञा का कारण नही बताया। हीरे को हीरा काटता है, मसाले को मसाला; लहसुन-सेवी दरबारियों से सम्राट् का बचाव इसी में था कि उनके और दरबारियो के बीच में कम-से-कम लौंग की सुवास की दीवार रहे। सम्राट् इतना नखरा कर सकते थे : गर्म मसाले और नखरे का सम्बन्ध एक बार फिर प्रमाणित है।

ईसा से पहले ही अरबों ने मसाले का व्यापार यूरोप से लेकर चीन तक फैला दिया था। इस्कन्दरिया इस व्यापार का मुख्य केन्द्र था (और तत्कालीन विद्या का भी—क्या इसमें कोई अचम्भा है ?) पौर महाद्वार का नाम भी इसलिए 'मिर्च दरवाजा' था। इस व्यापार मे लगे हुए मिस्री अरब थे पक्के धूर्त; अपना व्यापार बनाये रखने के लिए क्या-क्या किस्से वे गढ़ते थे ! ऐय्यारी-तिलिस्मी किस्सेबाज़ों की कल्पना भी वैसी उडान नही ले सकती थी जैसी इन व्यापारियों की, जब वे उन खतरों का बयान करते जो उन्हें मसाले लाने के लिए उठाने पड़ते थे ! ईसा की पहली शती में रोम का इतिहासकार प्लाइनी रो रहा था कि साम्राज्य का सारा धन लुटकर भारत पहुँचा जा रहा है क्योंकि रोम की सुन्दरियाँ भारतीय पट-वस्त्रों और अलंकारों पर जान देती है; पर असल में रोम के शोषण की आय

भारत को नहीं, अरबों को मिलती थी; और असल लूट वस्त्राभूषणों के व्यापार में नही, मसालों के व्यापार में होती थी। लौग, इलायची, दारचीनी—ये सब सोने के तौल तुलती थीं; और फिर भी सौदागर झीकता हुआ जाता था! दारचीनी-चीनी लकड़ी : हमारे कवि तो चन्दन काठ के बारे में ही कवि-समय गढ़कर रह गये कि उससे साँप लिपटे रहते है, पर अरब सौदागरों के किस्से में 'चीनी लकड़ी' की रक्षा में बाघ,भेड़िया, अजगर, हाथी, गैंडे, तिमिमगरमच्छ सभी लगे रहते थे —और इनसे बच जाने पर भी छुटकारा नहीं होता था क्योंकि जादू-टोना, भूत-प्रेत, जिन्न-परी का चक्कर अलग था—कितने सौदागर दारचीनी की खोज में भेड-बकरी बन गये, कितने सागरिक पोत शिलित होकर तटवर्ती टापू बन गये, कितनों को तिमि या दूसरे समुद्री जन्तुओं ने लील लिया! इन्ही किस्मों के बल पर ये लुटेरे सौदागर अपनी धाक बनाये रहे और मसालों के उत्पादन-क्षेत्र का रहस्य कई सौ बरस तक प्रतियोगी सौदागर लुटेरो—पुर्तगाली-ओलन्देजी-फ्रांसीसी साहसिकों से—छिपाये रहे!

रोम-साम्राज्य का इतिहास भी (सीसे के मटकों मे भरी जानेवाली शराब के प्रभाव को छोड़कर) मसालों का इतिहास ही है। ईसवी सन् ६५ मे सम्राट् नीरो की रानी पाप्पेया की चिता में दारचीनी का समूचे वर्ष का आयात फूँक दिया गया —उसी दारचीनी का, जिसकी बिक्री स्वर्ण तुला से होती थी! यह अपव्यय रोम के पतन का आरम्भ था; तीन सदियों बाद जब उत्तर के साहसिक विजिगाथ अलारिक ने लूट-पाट करते हुए रोम पहुँचकर उस नगर से १५०० सेर गोलमिर्च कर के रूप मे वसूल की, और दो वर्ष बाद से प्रतिवर्ष १५० सेर गर्म मसाले का कर रोम पर बिठा दिया, तब साम्राज्य की रीढ़ टूट गयी। इससे सौ वर्ष पहले अपिसियस पाकशास्त्र पर अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ लिख चुका था जिसमे मसालों के उपयोग का विस्तृत ब्यौरा था; पर मसालों के उपयोग की परिपक्व संस्कृति रोमनों के काम न आ सकी; समुद्री डाकू और साहसिक ही उससे लाभ उठा सके। अलारिक द्वारा रोम से गर्म मसाले की जबरन वसूली के बाद मसाले का आयात बंद-सा हो गया और यूरोप का वह युग आरम्भ हो गया जिसे 'डार्क-एजेज'—अंध-कार-युग कहा जाता है। चार सौ वर्ष के इस अन्धे युग का अन्त तब हुआ जब सागर-व्यापार के क्षेत्र मे वेनिस नगरी एक शक्ति के रूप में उभरी, और उसके द्वारा फिर मसाला यूरोप को सुलभ हुआ।

मसाले और सांस्कृतिक अभ्युदय का यह सम्बन्ध शायद धर्मवीर भारती को ज्ञात नहीं था; नही तो 'अन्धा युग' की रचना के लिए उन्हे महाभारत की कथा में नमक-मिर्च-मसाला मिलाने की जरूरत न पड़ती; वह सीधे मसाले का महा-भारत लिख सकते! और द्वापर की नायिका कनुप्रिया राधिका को भी रद्धू-बद्धू न कहलाना पड़ता। (उफ! भारती जी के कन्हाई को बहुत अधिक दिन मसालों

से वंचित रहना पड़ा होगा कि सारीनागरता भूलकर रद्धू-वद्धू पर उतरआये!) कहाँ जयदेव की 'प्रिया-चारुशीला' और कहाँ रद्धू : पर जयदेव तो लौंग-दार-चीनी, केसर-कस्तूरी से भली भाँति परिचित थे। यों केसर-कस्तूरी को आभिजात्य से जुड़ा हुआ माना जाय और कवि को 'आधुनिक' होने के लिए अधिक 'डेमोक्रैटिक' संबोधन आवश्यक जान पड़े तो भी 'ओ मेरी लौंगिया मिर्च' कहने में क्या बुराई थी !

खैर, यूरोप के अंधकार युग में भी अरब डूबे नहीं, क्योंकि उनकी पहुँच अब भी मसालों तक थी। हजरत मुहम्मद ने एक सम्पन्न मसाला-व्यापारी विधवा से विवाह किया : एक हाथ में तलवार और दूसरे में मसाले की मूँठ थामे हुए उनके अनुयायी एक साथ ही इस्लाम का प्रसार और मसाले की इजारेदारी का विस्तार करते गए। जैसा कि हम कह आए, यूरोप के अन्धे युग का अन्त तभी हुआ जब वेनिस ने मसाले के व्यापार में सफलतापूर्वक टाँग अड़ायी। इंग्लैण्ड के राजा एथेलरेड ने भी व्यापारियो से कर के रूप मे गोल मिर्च की वसूली आरम्भ की। थोड़े समय बाद ही मसीही-इस्लामी धर्म-युद्धों का युग आरम्भ हो गया। यह तो हम नहीं कहेगे कि धर्म-युद्ध भी केवल मसाले के युद्ध थे, पर मसाले के व्यापार के इतिहास से उनका सम्बन्ध अवश्य लक्ष्य है। इस्लाम और मसीही धर्म के संघर्ष के समान्तर एक दूसरा संघर्ष चलता रहा—मसाले बनाम अल्कोहल का; इस्लाम के अनेक प्रचारक मसाले के व्यापारी रहे तो मसीही धर्म के अनेक प्रचारक शराब के व्यापारी : बल्कि ईसाई मठ तो प्रायः सभी शराब बनाते भी थे। जो हो, जहादों से साहसिकों को ओट मिली और अनेक देशों के सागरिक मसाले के व्यापार के लालच में 'पवित्र भूमि की रक्षा' की दुहाई देने लगे। लन्दन मे मिर्च व्यापारियों का संघ बना, फ्रांस मे मसाला-व्यापारियों का महासंघ, ओलेन्देजी हिन्द महा-सागर में जहाँ-तहाँ टोह लेते रहे और पुर्तगेजी गिद्धों की तरह अरब सागरिकों के ही पीछे लगे रहे कि किसी तरह मसाले के व्यापार का रहस्य जान जाएँ। रहस्य खुलने मे प्रायः डेढ़ सौ वर्ष लग गए। मार्कोपोलो के चीन की यात्रा से लौटने पर ही यूरोप को पता लगा कि मसाले कहाँ-कहाँ होते है और कैसे प्राप्त किए जा सकते है।

मार्कोपोलो की यात्रा से पहले तक यूरोप में एक सेर जायफल के बदले छह भेड़ें या एक गाय मिलती थी। मार्कोपोलो के वृत्तान्त से तो मानो यूरोप को आग लग गयी—नहीं, मसाला लग गया। तब तक 'राजे बेटे' या तो पादरी बनते थे, या सैनिक—यही दो सम्मानित पेशे थे—और 'गन्दे बच्चे' ही घर से भागकर सागरिक भरती हो सात समन्दर पार अपनी किस्मत आजमाने जाया करते थे। अब यह हो गया कि राजे बेटे ही पहले सागरिक बनने लगे : उसी में मज़ा भी था और मुनाफा भी, और तुर्रा यह कि लूट-पाट को भी साम्राज्य-सेवा का पद (और पुरस्कार) दिया जाता था ! सबसे अधिक मिर्च पुर्तगालियों को लग रही थी।

दामों की खरीद-बेच में मुनाफा तो था पर मजा खास नहीं था; और मान तो बिलकुल नहीं था—और फिर दास-व्यापार के लिए भी तो मसाले की जरूरत थी ! महीनों लम्बी सागर-यात्रा में मांसाहारियों की मुख्य समस्या खाने की होती थी—अपने लिए भी, गुलामों के लिए भी। नमक की तहें देकर मांस भरकर ले जाया तो जाता था; फिर भी वह अन्ततः सड़ता ही था और अखाद्य न हो जाय तो महकता तो था ही। सागरिकों को जितना जोखम समुद्र में था, उससे कहीं अधिक सड़ते मांस से : इसीसे वे मरते थे और जब मरते नहीं थे तो तंग आकर मारते थे, बलवा करते थे। मसालों से एक ओर मांस की गन्ध दबाई जा सकती थी, दूसरी ओर सडांध के खतरे भी कम किए जाते थे : इस प्रकार मसाला समुद्री लुटेरागिरी की (और उपनिवेशवाद की) रीढ़ की हड्डी का काम देता था। तब अगर तेरहवीं शती में एक सेर मसाला एक गाय के बराबर था तो कोई विस्मय नहीं होना चाहिए। ईसा से १९०० वर्ष पहले अगर मसाले के सौदागर यूसुफ को खरीद ले गए थे, तो ईसा के १८०० वर्ष बाद भी इंग्लैंड में लोग गाय-भेड़ के बदले स्त्रियाँ बेच जाते थे—दास स्त्रियाँ नहीं, घर की बहुएँ। अठारहवीं शती में लन्दन के अखबारों में इसके विज्ञापन निकलते थे। यों एक सेर जायफल=छः भेड=एक गाय=एक वधू (या कभी दो भी, क्योंकि कभी तीन भेड़ एक स्त्री के बराबर मानी जाती थीं); अठारहवीं शती तक यूरोप के 'सभ्यतर' भाग मे भी यह गणित चलता था।

तो चार सौ साल के अन्धे युग के बाद चार सौ साल मसालेबाजी का युग रहा : सचमुच मसालेबाजी का युग, क्योंकि उपनिवेशवाद की बाजी वास्तव मे मसालों के व्यापार (और प्रदेश) पर अधिकार की बाजी ही थी। पुर्तगाली राजा हेनरी ने नौविज्ञान का कालेज स्थापित किया कि मसालों की खोज को प्रोत्साहन मिले, कोलम्बस मसाले की खोज में महासागर के पार पहुँचा; 'पश्चिमी' इंड से उसे एक नया मसाला (ऑल स्पाइस-पिप्पला) मिला और मेक्सिको से पहाड़ी मिर्च; पाँच वर्ष बाद ही वास्को डा गामा कोषिकोड (कालिकट) पहुँचा। इस भारतीय मंडी का परिचय मिलते ही यूरोप में गोल मिर्च का बाज़ार बिलकुल गिर गया—किस्सेबाज अरबों की साख हमेशा के लिए गिर गई। और दस वर्ष बाद पुर्तगालियों को दारचीनी के स्रोत सिंहल द्वीप का पता लगा; और छः वर्ष बाद अल्बूकर्क ने मलय प्रायद्वीप में मलाका पर कब्जा कर दूरपूर्वी मसाला क्षेत्र के बीच में पुर्तगाली अड्डा जमा दिया।

अब नई होड़ का बुखार-सा चढ़ गया। मैगेलन स्पेन के लिए मसाले खोजता दौड़ा; मसाला तो मिला पर दुर्भाग्य भी साथ मिला—वह अपनी जान और उतना-भर मसाला बचाकर लौटा जिससे यात्रा का खर्चा पूरा हो जाए। अंग्रेज नये 'उत्तरी रास्ते' की खोज में दौड़े : मसाले के द्वीप तो उन्हें नहीं मिले पर रूस

से समुद्री व्यापार का मार्ग उन्होंने पा लिया—और दो पीढ़ी बाद लाब्राडोर भी। स्पेन कहीं पैर नहीं जमा पा रहा था; अन्त में फिलिप पंचम ने अपना अधिकार या दावा पुर्तगाल को बेच दिया : बिना नोन-फिटकरी लगाए साढ़े तीन लाख स्वर्ण मुद्रा पाकर उसने मान लिया कि सौदा चोखा रहा। सन् १५८० में सर फ्रांसिस ड्रेक ने अपनी पृथ्वी-परिक्रमा में मसाले के अनेक द्वीपों की यात्रा कर ली : सन् १६०० में ईस्ट इंडिया कम्पनी बनी और सन् १६०९ में १ लाख १६ हज़ार पौंड लौंग की खेप भारत से इंग्लैंड पहुँची : समझ लीजिए कि एक खेप में १४½ मन सोना इंग्लैंड को मिल गया ! इंग्लैंड के पीछे-पीछे ओलन्देजी बढ़ते रहे : स्पेन ने जो कुछ पुर्तगाल को बेचकर सोना लिया था, वह पुर्तगेज़ियों से ओलन्देज़ियों ने छीन लिया : पहले मलाका, और फिर सिंहल : इस प्रकार मसालों के व्यापार की इज़ारेदारी डचों के हाथ आ गई। कोलम्बस ने 'पश्चिमी इंडीज़' पश्चिम के लिए हथियायी थी; ओलन्देज़ियों ने 'पूर्वी इंडीज़' का आविष्कार किया; अंग्रेज़ उनके मुकाबले के मनसूबे बाँधते हुए इंडियन इंडीज़ में अपने पैर गड़ाते रहे। अमेरिका से व्यापारी एलाइहू येल भारत पहुँचा : मसाले की दलाली से उसने इतना धन कमाया कि आज भी उसके बल पर प्रसिद्ध येल विश्वविद्यालय चल रहा है। इंग्लैंड-हॉलैंड में युद्ध छिड़ गया : युद्ध उत्तरी सागर में होता था पर जड़ उसकी थी पूर्वी इंडीज़ में। मसाला इतना सुलभ हो चला था कि हर साल डच व्यापारी एम्स्टरडाम में सैकड़ों मन लौंग-दारचीनी-जायफल की होली जलाते थे कि बाज़ार में मंदी न आ जाए।

और फ्रांसीसी इस युद्ध में कहाँ थे ? जहाँ होते : यानी कि हाथ की सफाई दिखाने में लगे थे। मारीशस के फ्रांसीसी गवर्नर प्वाव्र डचों से लौंग और जायफल के बीज चुराकर लाये कि अपने द्वीप में मसाले की खेती हो सके। अब विधाता का विनोद देखिए कि फ्रेंच में 'प्वाव्र' का अर्थ होता है गोल मिर्च : यानी गोल मिर्च ही लौंग और जायफल चुराकर लाई। इस पर शुक्राचार्य और कच की पौराणिक कथा याद करें; या कि लोक-साहित्यिक आग्रह रखते हुए वह अवधी लोक गीत, जिसमें घुइयाँ के ब्याह में सकरकन्द के न्यौते पर गाजर-मूली सब बारात में आ जाते है ? (इस गीत में भी नृतत्त्व का कोई ऐतिहासिक तत्त्व होगा ज़रूर : कन्द अधिक पुराने खाद्य हैं, मूलों की खेती बाद में हुई—कन्दों ने मूलों को बुलाया यानी प्राचीन वन-जातियों ने तरकारी की खेती सीखी—गोल मिर्च ने लौंग चुराई ! अमरीकी नृतत्त्वविदों ने अभी यह गीत नहीं सुना शायद, नहीं तो उत्तर प्रदेश का एक नया सांस्कृतिक इतिहास बन गया होता। और लौकिक अवधी के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन पर डाक्टरेट लेकर जो कई नये अमरीकी इंडिया-एक्सपर्ट आविर्भूत हो गए होते, वे घुइयाँ-सकरकन्द के रूँगे में !)

माफी चाहते है : गर्म मसालों की बात में हम ऐसे उलझे कि अपना नखरा

भूल गये। नहीं तो सवाल यह उठता है कि प्राचीनतर द्रविड़ों के रहते अवध किस अधिकार से कन्द-मूल की चर्चा करने लगा ? लोकगीत की मूलवस्तु अवश्य हमारे दक्षिण की रही होगी। उन्हें अपने गोभी-करमकल्ला के गीत गाने हों तो गा लें। कन्द-मूल ही क्यों, ससार की सबसे प्राचीन तरकारी लौकी (अलाबु, लाउ, लौकी) भी हमारी है; और जहाँ-जहाँ हमारा प्रभाव गया है लौकी भी गयी है। हमारा तो विश्वास है कि कूष्मांड और कटहल भी कदली की तरह हमारे ही है। इन्हा के लोभ में तो आर्य यहाँ आ बसे होंगे, क्योंकि ऋषियों ने कटहल और केले के वनों में अपने आश्रम बनाये। बड़े से बड़ा फल, भारी से भारी घौद—और बिना मेहनत-परवरिश के अपने-आप पनपने और फलने-फैलने वाले वृक्ष—बस आरण्यकों ने आसन जमाया और हो गये समाधिस्थ। बैठकर गाओ और जब-तब हाथ बढ़ाकर केला-कटहल खा लो। गाओ भी क्या—कुल तीन तो स्वर थे उनके गायन में, जिन सात स्वरों मे देववाणी नपती थी। वे सगीत के स्वर थोड़े ही थे, वे तो छन्द के वर्ण थे। तीन-ठो सुर और सात-ठो अक्षर, लो हो गये ऋषि ! यह तो दक्षिण की ही प्रतिभा थी कि एक-एक स्वर में बत्तीस-बत्तीस मूर्छनाएं पहचानते रह गये—बारीकी हो तो ऐसी।

पर हम प्रसंग से दूर नही जाना चाहते—इतिहास के नाम पर भी नहीं। पाद-टिप्पणी के रूप मे दो-तीन और तथ्य अनुसूचित करके बात समेटें।

उन्नीसवीं सदी के उदय के साथ-साथ मसाले की दुनिया का नक्शा काफी बदल गया—और पिछले वर्ष सौ वर्ष में कुछ और भी महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटी। मलाका पर अंग्रेजों का कब्जा हो जाने से डचो के पास सिर्फ जावा बच गया। मसाले के व्यापार में अमेरिका ने बहुत हाथ-पैर मारना शुरू किया। सुमात्रा से एक वर्ष में उसने ७ लाख पौड गोल मिर्च का आयात और फिर निर्यात किया—सुमात्रा की कुल पैदावार का लगभग आधा। बीस वर्ष में यह हालत हो गयी कि गोल मिर्च के दाम पाँच आने सेर रह गये। लेकिन इस अन्यायपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध सुमात्रा-वासियों के गुस्से और (समुद्री डाकुओं की कृपा !) से स्थिति फिर बदली; अमेरिका ने धीरे-धीरे इस व्यापार से हाथ खींच लिये। सन् १९३५ में लन्दन के सट्टेबाजों ने सारी दुनिया की गोलमिर्च का इजारा पा लेना चाहा, पर गच्चा खा गये और १ करोड़ पौड की चपत खाकर गाल सहलाते रह गये। दो ही वर्ष बाद एक हंगेरियन वैज्ञानिक को मिर्च मे विटामिन सी के अन्वेषण पर नोबेल पुरस्कार मिला, जिसके बाद में अमेरिका मे मिर्च का उत्पादन व्यावसायिक पैमाने पर होने लगा। महायुद्ध के समय मसालों के दाम पश्चिमी जगत् में बहुत बढ़ गये थे। १९४३ के दाम १८४३ से ठीक सौ गुना अधिक थे ! सन् १९६० के आंकड़ों से पता चलता है कि अमेरिका के व्यापारों मे सबसे अधिक वृद्धि मसालों के आयात में हो रही है।

जो बात कि व्यंजना द्वारा हमने शुरू में कह दी थी—संस्कृति का भी और समृद्धि का भी सच्चा मानदण्ड मसालों का प्रयोग है। प्राचीनतम संस्कृतियाँ वे हैं जिन्होंने सबसे पहले मसाले का उपयोग जाना; आज की समृद्धतम संस्कृतियाँ वे हैं जिनमें सबसे अधिक तेजी से मसाले का प्रयोग बढ़ रहा है। सांस्कृतिक ह्रास के साथ मसाले की खपत गिरी है; खपत घटने के साथ संस्कृति हीनता को प्राप्त हुई है। इस अन्योन्य सम्बन्ध का कोई अपवाद इतिहास में नहीं मिलेगा। कोई कह सकता है कि सभ्यता की समृद्धि जरूरी तौर पर संस्कृति की उच्चता की निशानी नहीं; (लेकिन कहेगा तो कोई दक्षिणी ही कहेगा जिसका सब मसाला अमेरिका चला जा रहा है; दिल्लीवाल या हिन्दीवाल क्यों कहेगा जिसमें हमारे मसालों का चलन बढ़ रहा है!) पर यह तो उसे भी मानना पड़ेगा कि उच्चतर संस्कृति नहीं तो उसका दावा ज़रूर समृद्धि के पीछे चलता है—और दावा माना भी जाता है। आज अमेरिका संस्कृति का सबसे बड़ा दावेदार है—और हम भारतीय ही उस दावे को सबसे अधिक मानने वाले। (आखिर मसाले का स्वाद हम भी तो पहचानते हैं—चटखारा हमें भी तो है!) नहीं तो पहले कभी आपने सुना था, सुशिक्षित भारतवासी रेस्तराँ-कहवाघर में जाकर फरमाइश करें, 'हॉट डॉग' की? यह हॉट-डॉग गर्म कुत्ता नहीं, गर्म-मसालेदार कुत्ता है; और कुत्ता नहीं, लम्बोतरे आकार की रोटी में भरा हुआ माँसों और छिछड़ों की मसालेदार पिट्ठी का पूर है। यानी खाने में कोई श्रेष्ठ खाना नहीं है। असल बात चटखारे की है—नखरे की है। अंग्रेजी कहावत है न, मुझे प्यार करो तो मेरे कुत्ते को भी प्यार करो!—वही यहाँ प्रकारान्तर से लागू हो जाती है। मेरा नखरा सहते हो तो मेरे कुत्ते का भी नखरा सहो—उसमें भी तो गर्म मसाले का पूर है। हॉट डॉग में गर्म मसाला, हॉट डॉग सभ्यता के नखरे में भी गर्म मसाला—इत्येवं प्रतिष्ठापितं सत्यम्।

भूमिका तो रह ही गयी

बायरन ने कहीं एक द्विपदी लिखी है जिसका अर्थ हिन्दी मे कुछ यो हो सकता है—तुक के लिए राष्ट्रकवि क्षमा करे।

नाम छप जाय तो कितना सुख हो, अहो !
पुस्तक है पुस्तक ही, भीतर कुछ हो, न हो।

किन्तु हमें जबसे छपास की छूत लगी है हमनेपुस्तक लिखना कभी नही चाहा, केवल भूमिका लिखने की उमंग मन में रही है। और शायद इसीलिए अभी तक वह इच्छा पूरी नही हो सकी : पुस्तक ही न होगी तो भूमिका किसकी ? और आजकल भूमिका लिखाने का फ़ैशन तो है, पर जिसकी खुद की कोईपुस्तक न छपी हो उससे भूमिका कौन लिखायेगा ? हाँ, मिनिस्टर-विनिस्टर होते तब और बात थी—पर मिनिस्टर को छपास लगती है तो दूसरो की लिखी दो-चार पुस्तकें भी उसके नाम से छप जा सकती है, और कोई बहुत ही नैतिक बाल की खाल उतारने वाला हुआ तो अपने भाषणों का संग्रह तो छपा ही सकता है। जो हो, हमने पुस्तक लिखना कभी नही चाहा, भूमिका लिखना ही चाहते रहे—और इस प्रकार लिखने की भूमिका बाँधते-बाँधते ही रह गये। कहते है 'आरम्भशूराः खलु दाक्षिणात्याः', पर हमसे तो वह आरम्भिक सूरमाई ही नही हुई : हम तो साहित्य की आश्रमिका शकुन्तला को सताने वाले असंख्य लेखक-मधुकरो को देखते हुए दुष्यन्त की तरह आह भरकर ही रह गये—'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।'

पुस्तक हर कोई लिख सकता है—जो कोई भी पुस्तक लिखता है आखिर पुस्तक ही लिखता है; भूमिका लिखना—यानी भूमिका मात्र लिखना—असाधारण प्रतिभा की निशानी है। पुस्तक लिख-लिखकर कितने प्रसिद्ध हुए, कितने अमर हो गये—वाल्मीकि ने रामायण लिखी होमर ने ओडिसी और इलियड, व्यास को अमरत्व के लिए पूरा महाभारत लिखना पड़ा। लेकिन लिखकर अमर हो जाने वाले संसार में कितने है ? बल्कि अमरत्व की पहचान करने लायक स्थिति ही अभी नहीं आयी क्योंकि परख के लिए कम-से-कम कुछ सौ वर्षों का समय तो चाहिए ही और भूमिकाओं का तो चलन ही उसके पीछे हुआ—प्राचीन

काल में तो लोगों को अमरत्व लाभ की इस नसैनी का पता ही नहीं था, नही तो क्या व्यासजी को यह न सूझता कि महाभारत के सवा लाख श्लोक घिसने से कहीं आसान—और कही अधिक प्रामाणिक—काम यह है कि संजय का आँखों-देखा बयान ज्यों का त्यों रहने देते और केवल चतुःश्लोकी भूमिका जोड़ देते : 'हमें विश्वास है कि...यह आँखों-देखा वर्णन राष्ट्र के लिए उपयोगी और शिक्षाप्रद होगा...लेखक बधाई का पात्र है...' और अधिक तटस्थता दिखाना चाहते तो यह भी जोड़ देते कि 'भाषा जहाँ-तहाँ नाटकीय हो गयी है...धृतराष्ट्र के बार-बार संजय को नाम से सम्बोधन करके 'तदा नाशसे विजयाय संजय' कहने में...आवृत्ति दोष...प्रयोग चिन्त्य है...आशा है अगले संस्करण (या अगले महाभारत ?) मे ये त्रुटियाँ दूर कर दी जायेंगी...लेखक का आशय शुभ है...'

लेकिन ऐसा नही है कि भूमिका लिखकर प्रसिद्ध होने वाले कोई हुए ही नहीं हों। नयी दृष्टि देने वाले पश्चिम मे ऐसे कई द्रष्टा हो गए है। बर्नार्ड शा के बारे मे तो जगत्प्रसिद्ध है कि उन्होंने नाटकों की भूमिकाएँ नहीं, भूमिकाओं पर नाटक लिखे है। उनका काव्य भूमिकाओ मे ही है; नाटक तो उसका दृष्टान्त मात्र है। 'प्रत्यक्ष कि प्रमाणम्'—प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं, यह मान भी लें तो यह तो नही सिद्ध होता कि प्रमाण को भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं ? और बर्नार्ड शा का प्रमाण उनकी भूमिकाओ मे है, नाटको मे केवल उसका प्रत्यक्ष या प्रत्यक्षीकरण। एक अँग्रेजी कवि भी हो गये है जिन्होने एक लम्बी भूमिका लिखी और उसे 'अमुक कवि की सम्पूर्ण काव्य-कृतियाँ' नाम से प्रकाशित करते हुए उसके अन्त में पाँच चतुष्पदियाँ (सॉनेट) भी जोड़ दीं : यहाँ भी भूमिका ही सब-कुछ है, उसीके ज़ोर पर रचयिता केवल लेखक नही, कवि भी प्रसिद्ध हो गया है।

हम जानते है कि ये उदाहरण बहुत अच्छे नही है क्योकि इन सबमें भूमिका का कलेवर इतना बड़ा है कि आज के तुलायुग में उसी को मुख्य मानना ही स्वाभाविक है। इत्ती-सी नन्ही बाई, इत्ती बड़ी पूँछ : लेकिन आज के ज़माने मे ध्रुव तारे को कौन देखता या स्वाती को कौन पूछता है ? आज तो पुच्छल तारे ही सबका ध्यान खींचते है और वैज्ञानिक अध्ययन भी उन्हीं पर केन्द्रित होता है।

और प्रश्न तो असल में यही है कि कौन नन्ही बाई है, कौन पूँछ : कि कौन पहले है, कौन पीछे; कौन मुख्य, कौन गौण ? यद्यपि यह भी दर्शन के बीज और अंकुर या अण्डे और चूज़े वाले प्रश्न की तरह एक सनातन प्रश्न-सा जान पड़ता है—और अक्सर यह बताना बिल्कुल असम्भव होता है कि कौन कारण है, कौन कार्य। कालिदास के 'मेघदूत' और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्रों को साथ देखकर तो खैर ऐतिहासिक तर्क से कार्य-कारणत्व का निश्चय हो सकता है, पर जहाँ काल-ज्ञान न हो, या जहाँ हम ऐतिहासिक ब्यौरे से परिचित न हों वहाँ ? गालिब को चुगताई ने चित्रित-अलकृत किया है, पर 'मुरक्का-ए-चुगताई' देखकर कैसे

पता लग सकता है कि कौन प्रथम है, कौन द्वितीय ? नाम भी तो सहायता नही करता। पाल एलुआर की कविता और पिकासो के चित्र ले लीजिए—ये दोनों तो समकालीन और मित्र भी रहे। इलाहाबाद की एक पत्रिका मे महादेवी वर्मा के चित्र किन्हीं 'कुमार' के पदों के साथ छपा करते थे, पर अनन्तर यह 'कवियशः-प्रार्थित्व' समाप्त हो गया जब महादेवीजी स्वयं अपने चित्रों पर पद नही पूरी कविताएँ लिखने लगी—और पर माने अक्षरक्षः पर, चित्रफलक के ऊपर ही। हम तो कभी निर्णय नहीं कर पाये कि चित्राधार पर कविता रची गई है, या काव्याधार पर चित्र। काव्याधार पर चित्र तो इसलिए असम्भाव्य जान पड़े कि चित्रित पन्ने पर अक्षर लिखना तो हो सकता है, पर अक्षरित पन्ने पर चित्र बनाना कुछ अजब बात है। पर चित्राधार पर काव्य भी कुछ समझ में न आया क्योंकि चित्रों की छायाकृतियाँ तो फिर भी पहचानी जाती है, पर महादेवीजी की कँगूरे-दार लिपि मे से कविता बाँच लेना कम-से-कम हम दाक्षिणात्यों के लिए तो ज़रा टेढ़ी खीर है। उर्दू में लिपि शिकस्ता होती है, हिन्दी में घसीट लिखते है, पर शिरोरेखा का ऐसा कुतरा भी बनाया जाता है हम नहीं जानते थे। हमने समझ लिया कि सब कविता पढने के लिए नही होती, कुछ संग्रह करने की भी होती है। हमारे पड़ोस की एक उधर की रहने वाली नानी जो बिल्कुल अपढ़ है बड़ी श्रद्धा से चौकी पर 'कल्याण' की प्रतियाँ रखा करती है और चिढ़ाने पर ज़रा भी अप्रतिभ हुए बिना कह देती है कि 'भैया, पढ़कर ही जिसका असर हो वह क्या पोथी ? हम तो उसीको मानते है जो बिना पढ़े भी मन को धो जाय।' इस तर्क का हमारे पास कोई उत्तर नही है। हमने 'दीप-शिखा' की एक प्रति लेकर बैठक में रख छोड़ी है और प्रतीक्षा में है कि कभी तो उससे मन आलोकित होगा ही। जहाँ तक भूमिका का सवाल है, हम दक्षिणी तो अभिधावादी होते ही है, हमने मान लिया कि चित्र ही भूमिका है क्योंकि वे ही भूमि है—और कैसी बढ़िया कुट्टिम भूमि, बल्कि आल्पना या रांगोली से चित्रित भूमि !

यह सारा ऊहापोह 'घृताधारे पात्रं वा पात्राधारे घृतम्' ही नही है : वनस्पति घी के ज़माने में वैसे कोरे बौद्धिक प्रश्न से किसी को क्या मिलेगा ? भूमिका के बारे में हमारी जिज्ञासा सच्ची है। और पहले-पीछे के अलावा एक और प्रश्न भी हमारे मन में सदैव रहा है—भूमिका आरम्भ में, या अन्त मे, या मध्य मे ? भूमिका आकाशिका, या पातालिका या आन्तरिकी ?

लेकिन भूमिका नाम पुराना पड़ गया है। 'दो शब्द', 'कुछ शब्द' इस तरह के शीर्षक शायद उर्दू से आए है। 'प्राक्कथन' स्पष्ट ही अंग्रेजी की देन है, इसी प्रकार 'परिचय' भी। 'पाठक से दो-दो बातें' नया प्रयोग है,—पुष्ट अहं वाले लोगों का, जो ऐसा लगता है 'दो-दो हाथ' लिखते-लिखते ज़रा झिझक गये। एक और फैशन है 'अपनी बात'—मानो पुस्तक के कलेवर मे जो कुछ है वह सब परायी बात ही

है। (सम्भव है हो ही !) लेकिन नयी शैली की इति है 'मुझे कुछ नहीं कहना है' : भाई जान, कुछ नहीं कहना था तो चुप नहीं रह सकते थे ? किताब तो खैर बिना कुछ कहने को रहते भी आप लिख गये, भूमिका की क्या ज़रूरत थी ? पर ऐसे लोग अपनी प्रशंसा में बहुत-कुछ 'प्रकाशकीय भूमिका' या 'प्रकाशक की ओर से' शीर्षक के नीचे दे देते है—कहना न होगा कि यह सब लिखते है स्वयं।

आप हमसे भी पूछेंगे : आखिर कहना क्या चाहते हो ? काहे की इतनी लम्बी भूमिका है ? लेकिन साहब, हमारे भूमिका बाँधने का कारण तो यही है कि हम कहना नहीं चाहते सिवा इसके कि कुछ कहना नही चाहते। यह बात भूमिका में विशेष स्पष्ट कह देने की है इस बात को लेकर भूमिका लिखने मे दोहरा लाभ है : एक तो कथ्य की कमी भूमिका के घटाटोप में छिप जाती है, दूसरे पहले से ही ऐसा कह देने से विनय का, निरहंकार भाव से अपना अकिंचनत्व स्वीकार करने और परम सत्यवादी होने का श्रेय मिल जाता है।

एक बात और भी है, चाहे यह पहली बात को काटती ही हो। सिनेमा की कहानियों के सार देते समय विज्ञापनों मे लिखा रहता है, 'इससे आगे चित्रपट पर देखिए'—चाहे आगे हो यही कि जहाँ जहाँ से कहानी आरम्भ होती हुई मानी गयी वह बात असल में तो थी ही नही जैसे आपके भविष्य के बारे में जिसकी जिज्ञासाओं से आप समझ बैठे हों कि वह मुहब्बत करने लगी है (प्रेम शब्द सिनेमा मे निषिद्ध है, वह तो नाम होता है !), वह वास्तव मे बीमा एजेंट हो। समझ लीजिए कि भूमिका भी वही कर रही है : कह रही है कि इससे आगे भीतर देखिए नहीं तो भला सोचिए : हमे पुस्तक में जो कहना है वह भूमिका मे ही बता दें तो आप पुस्तक क्यों पढ़ने लगे ? आजकल पूर्व-पचित प्री-डाइजेस्टेड भोजन का चलन है : पर हमारी जुगाली का निवाला दूसरा क्यों खाना चाहेगा ? हमें भूमिका में यही कहना है कि पूरी पुस्तक पढ़िए तो शायद आपको पता लग जाय कि भूमिका मे क्या होना चाहिए था—बस, इतनी ही तो हमारी भूमिका है, इससे आगे भूमिका आपकी है। 'सब रंग' की रंगस्थली आपके सम्मुख है। बँगला मे सिनेमा के तमाशे की प्रशंसा करते है तो कहते है 'खूब भालो बोई'—बड़ी अच्छी बही यानी पुस्तक है। तो क्या 'सब रंग' की प्रशंसा मे यह कहना बिल्कुल बदतमीज़ी होगी कि 'खूब मोजार नाच'—मोजा अर्थात् मज़ा, नाच अर्थात्—यही, अब इसे जो कुछ भी कह लीजिए, जिसमे लेखक की भूमिका मे है अदना पर फ़ितना कुट्टिचातन्, जिसने घुट्टी में शैतानी पी थी, और पाठक की भूमिका मे है—जी हाँ, आप।

यद्यपि पूरी पुस्तक लिखने का हमारा कभी कोई इरादा ही कहाँ था—वह तो समझ लीजिए कि अनजाने चूक हो गयी—हम तो केवल भूमिका लिखना चाहते थे।

सेवा-पुराण

कुट्टिचातन्—बौना या छुटका जातक—शायद अपने छुटभैयेपन के कारण ही जहाँ चाहे पहुँच जाता है। एक तो बालक फिर वह भी छोटा—ईश्वर-पुत्र ईसा भी तो ईश्वर की ओर से फरमा गये कि 'छोटे बालकों को मेरे पास आने दो'! तो अगर एक दिन बड़े तड़के नींद उचटने पर (श्री जैनेन्द्रकुमार की अव्याख्ययया व्याख्यया शैली में कहें तो) 'पाया' कि खुदा के दरबार में एकदम अत्रभवान् के रू-ब-रू खड़े है, तब अगर अचम्भा हुआ भी तो उसे चेहरे पर नहीं झलकने दिया। इतना ही कि स्वभाववश किसी न किसी के सिर पर सवार हो जाने के दुर्निवार लोभ को किसी तरह दबाकर जहाँ के तहाँ खडे ताकते रहे। फौरन ही यह भी समझ में आ गया कि चुपचाप ताकते रहने में ही सबसे ज्यादा मजा है; क्योंकि दरबार में हाजिरी अपनी है पर पेशी उस समय दूसरों की हो रही है जिसे चुपचाप खडे रहकर देखा-सुना जा सकता है, बोल पड़े तो कहीं खुद ही न कठघरे में जा खड़े होना पड़े।

तो देखा गया कि वहां कई खड़े है जिनसे सवाल-जवाब अभी हुआ है या हो रहा है। खुदावन्द सवाल बोलकर नहीं पूछते; उनकी ओर से मानो अपने-आप बुल जाता है और सवाल पुछ जाता है (दे० महर्षि जैनेन्द्र-कृत व्याकरण-विनियोग; अक्रिया प्रकरण); लोग सब एक साथ जवाब देते है जो अलग-अलग टंकन यंत्रो द्वारा टंकित होते हुए फ़ीतो के रूप में एक और यन्त्र के पेट में अदृश्य होते जाते है; इस यन्त्र से दो तार और दूर ओट मे बैठे हुए सदर मुहर्रिर चित्रगुप्त गुप्ता की पर्पटियों से लगे हुए है। इस प्रकार सवाल-जवाब, गवाही-इन्दराज सब अपने-आप होता जा रहा है। पहले तो लगा कि ऐसे में हमारा कुछ सुनकर समझना असम्भव होगा; पर जब एक-एक व्यक्ति की ओर देखते हुए पाया कि जिसकी ओर देखते है उसीका स्वर उभर आता है और बाकी स्वर संगीत की गूंज का स्थान ले लेते है, तो ध्यान देकर इसी तरह सुनने लगे।

देखने मे जो सबसे प्रभावशाली था, उसके बारे में तो अनन्तर पता लगा कि वह जल्लाद है; पर पहले जिस पर आँखें टिकी वह घबराया और कंजी आँखों से इधर-उधर ताकता हुआ भी पदक-सम्पन्न वर्दी पहने होने के कारण कुछ अलग

दीखता था। मैं सोच ही रहा था कि 'क्या फ़ौजी अफसर हो सकता है ?' कि उसके बयान से ही पता चल गया कि बड़ा पुलिस अफ़सर है। पुलिस अफ़सर ! इस जाति के लोगों से पुराना वास्ता रहा है—चाहे इसलिए कम कि हमें उनमें कोई दिलचस्पी रही है, इसलिए कहीं ज्यादा कि उनको ही हमारे हर काम में गहरी दिलचस्पी रही है—अगर हमारे पीछे जो चस्पाँ रहा है उसे 'दिल' कहा जा सके। तो इन्हीं की बात पहले सुनने लगे।

सवाल यह था कि किसने क्या-क्या काम किया—नही, क्या-क्या कर्म किये; और उनके फलरूप उन्हें क्या दण्ड मिलना चाहिए या दुबारा कहाँ भेजा जाना चाहिए और कितनी जल्दी। (क्योंकि "खुदा का घर कोई खालाजी का घर नहीं है"—ऐसा कुछ दिन पहले किसी से कहते हुए लाला चित्रगुप्त गुप्ता को सुना गया था : वह वास्तव में एक शरणार्थी शिविर है जहाँ लोग उतनी देर-भर के लिए आते है जितनी देर उनके तबादले का फ़ैसला करने में लगे। स्थायी रूप से वहाँ कोई नहीं रहता सिवाय अधिकारियों के—कम से कम अब कोई नही रहता। सुना जाता है कि पहले काफ़ी लोग रह जाते थे; पर नये सेवा-नियमों में उतनी अर्हता किसी की नहीं हो पाती—पुराना विधान निहित स्वार्थों को बढ़ावा देता था और नया अधिक डेमोक्रैटिक तथा प्रोग्रेसिव है। यह भी भनक कान मे पड़ी थी कि एक दिन चित्रगुप्ता बाबू को डाँट भी पड़ी थी कि अधिकारियों को अधिक कमिटेड होना चाहिए—यानी किसी को अधिक देर टिकने नहीं देना चाहिए। बल्कि अफ़वाह यही थी कि यह डाँट खाने के बाद ही उन्होंने 'खालाजी का घर' वाली बात कहना शुरू कर दिया था !) तो विचार यह हो रहा था कि कर्म-फल कैसे निर्धारित हो : दूसरे शब्दों में कि किस कर्म का कितना उत्तरदायित्व किस पर है।

और सफाई में सभी ने एक ही गुर अपनाया था : कि उन्होंने किया तो बहुत-कुछ, पर उत्तरदायित्व उसका उन पर नहीं है। अब जैसे पुलिस अधिकारी : उनका कहना था कि अधिकारी होने के नाते ही वह 'आज्ञाकारी सेवक' थे : एक बना-बनाया दण्ड-विधान और उस पर आश्रित कार्य-नियमावली उनके सामने थी और उनका काम यही था कि उस पर अमल करते चलें। विवेक की स्वतन्त्रता उन्हें नहीं थी, जैसे कि किसी भी सिपाही को नहीं होती—और पुलिस का आदमी नागरिक सेवारत सिपाही नहीं तो और क्या है ? "तो सर खुदावन्द करीम, मैंने जब से होश सँभाला तब से कोई ज़िम्मेदारी का काम नहीं किया—जो कुछ किया उसमें किसी भी बात के लिए मैं ज़िम्मेदार नहीं हूँ, सर; इसलिए मुझे कर्म विधान से मुक्त समझा जाय...मैं हूँ आपका परम आज्ञाकारी सेवक···" यही उनकी सफ़ाई का सारांश था : आगे अवकाश-प्राप्त अधिकारी की सुविधाओं की माँग वगैरह भी थी पर उधर ध्यान देना ज़रूरी नहीं समझा।

यह दूसरा कौन है ? यह तो अपने को इनसान मानने से भी कतरा रहा है !

"मैं कैसे किसी भी बात के लिए उत्तरदायी हो सकता हूं ? मैने तो कोई काम ही नही किया—बल्कि मैं तो व्यक्ति ही नहीं हूँ; मैं तो केवल एक स्वर हूँ ! कुछ करना तो दूर, मैंने तो कभी करने न करने के बारे मे सोचा भी नहीं, क्योंकि वह मेरे क्षेत्र से बाहर की बात थी। जो कुछ मेरे सामने रख दिया गया, मैंने केवल उसे स्वर दिया—वह मेरे द्वारा 'बुल' गया, बस ! मेरे ज़माने से पहले तो कभी-कभी ऐसा भी होता था कि सोचना पड़ जा सकता था—और नही तो इतना ही कि नियमावली का अर्थ कैसे लगायें—या कभी सलाह-मशविरा करना पड़ जाता था जिससे कम से कम अपनी राय की ज़िम्मेदारी तो अपने ऊपर आती थी—पर अब तो फैसला 'जन-हित' के आधार पर हो जाता है : सब फ़ैसले हो चुकने के बाद ही बात मुझ तक आती है और मेरे द्वारा केवल स्वरित होकर शून्य आकाश मे फेंक दी जाती है। मै क्योंकि स्वय जन हूँ, इसलिए जन-हित की बात सोचने का मुझे हक नही है : अपना हित सोचकर काम करने से काम मे वह निस्सगता नहीं रहती जो सरकारी काम में होनी चाहिए—खासकर जनता की सरकार के काम मे।"

ओफ्फोह ! यह तो बोलता ही चला जा रहा है ! है कौन ? मन मे प्रश्न के रूप लेते ही उत्तर भी प्रकाशित हो गया—यह रेडियो का अनाउसर है। अशरीरी स्वर है, इसीलिए शायद इसके चुप होने का सवाल नही उठता—चुप होने का भी तो फैसला करना पडेगा—और कोई फैसला करना ज़िम्मेदारी ओढ़ना है। "खुदावन्द, हमारे विभाग मे हमेशा यह नीति रही है कि 'आलोचना से बचो, इसलिए कोई निर्णय लेने से बचो।' पहले भी यही होता था : आपको क्या याद दिलाये कि अशारिया बनाम दशमलव को लेकर कैसा हगामा उठने लगा था कि विभाग में किसी ने कैसा नुक्ता पकड़कर वह नुक्ता निकाला कि नुक्ता ही उड़ गया ! 'उन्नीस अशारिया दस पांच मीटर' या कि 'उन्नीस दशमलव तीन-पाँच मीटर' यह झगड़े की बात थी, किसी तरफ़ भी फैसला करते तो आलोचना होती, इसलिए नुक्ता ही उड़ा दिया गया। 'उन्नीस तीन-पांच' में जब सवाल ही नदारद हो गया तब जवाब खोजने की जिम्मेदारी से भी छुटकारा मिल गया—और खूबी यह कि यह भी पूछने की जरूरत नहीं पड़ी कि आखिर यह निश्चय भी किसने किया। तो खुदावन्द, यह छू-मन्तर प्रतिभा हमारे नौकरशाह देश की खास खूबी रही है—(और उस खूबी का ही एक पक्ष यह है कि हम कभी तय नही कर पाते कि वह गुण है या कि दोष : 'न-हाँ—न-ना' का नुस्खा सिर्फ हमारी पुण्यस्मृत परम-पदप्राप्त कांग्रेस का आजमाया हुआ हो, ऐसा नही; सतजुग मे भी तो 'इदं न मम' कहकर उत्तरदायित्व से छुट्टी पा ली जाती थी ! और, भगवन्, अब तो जिसके स्वर से मैं बोलता हूँ—या जिसका स्वर मुझसे बोलता है, कौन-सा प्रयोग शुद्ध होगा ?—वही आकाशवाणी है, सदा से मानव जिसकी ओट में कर्म-फल से

मुक्ति पाता आया है; तब मैं कैसे किसी कर्म का उत्तरदायी हो सकता हूँ? आकाशवाणी आपकी वाणी है—और आप स्वयं 'न था था, न न-था था' के सिवा किसी तरह परिभाषित नहीं होते—"

रेडियो के बहुत से सुख हम जानते है, पर यत्परोनास्ति सुख यह है कि बटन दबाकर उसे बन्द किया जा सकता है। यह ठीक है कि फिर पड़ोसी का रेडियो सुनना पड़ता है, और तब रेडियो का असल सुख यह जान पड़ता है कि पड़ोसी के रेडियो से बचने के लिए अपना रेडियो चलाया जा सकता है, जैसे कि दूसरों के सिगरेट के धुएँ से बचने के लिए स्वयं सिगरेट पीना शुरू किया जाता है। (नही तो और क्यों, कैसे अच्छे-खासे समझदार लोग सिगरेट पीने लगते है?)। पर यहाँ पड़ोस-वड़ोस का सवाल नही था, आखिर खुदा का दरबार था; ध्यान दूसरी ओर फेरते ही आकाशवाणी चिदाकाश में डूब गयी।

कोई विदेशी स्वर। पर यहाँ स्वदेशी-विदेशी क्या होता है—वह तो खाला-जी के घरों का ही मुहावरा है। इसकी भाषा पहले सुनी हुई नही लगती, पर समझ में तो अपने-आप आती चलती है। शायद इसीलिए स्वर्गादपि गरीयसी भारत-भूमि में अंग्रेज़ी का इतना मान है; उसके जानने-सुनने वाले कितने है यह सवाल नही उठता अगर पहले से यह जानकर चलें कि वह समझ मे आपसे-आप आ जायेगी! असल में राजा की बात समझने का तो सवाल ही नही होता; समझा तो राजा का इशारा जाता है; आगे भाषा तो इसीलिए होती है कि बहुत से लोगो को रोज़ी मिलती रहे—और अब देखिए कि अंग्रेज़ी से कितने लोगों की परवरिश होती है! पर यह तो दूर नीचे की उलझनों में बंध जाना हुआ; पहले इस विदेशी की बात तो सुन लें।

यह बमवर्षी विमान का चालक है। यह भी अपने काम के लिए उत्तरदायी नही है। उसने केवल आज्ञा का पालन किया है। आज्ञा हुई कि बम गिरा दो तो उसने बम गिरा दिया। बम गिरने देना एक बात है, मारना दूसरी बात। बल्कि उसने अगर गिराये भी तो कभी किसी जीवित प्राणी पर कहाँ गिराये? उसने निशाना साधा तो नक्शे पर दो रेखाओं की सन्धि का, एक बिन्दु का, एक धब्बे का—और ऐसा भी जब किया तब स्वयं एक यन्त्र, एक यन्त्र का पुरज़ा बनकर। जिस मशीन का वह पुरज़ा था, वह ठीक-ठीक चलती रही, अगर इसी को उसकी जवाबदेही माना जाय तब तो दूसरी बात है, नहीं तो किसी परिणाम की कोई जवाबदेही उस पर नहीं है। उस मशीन को बनाने की भी नही जिसका वह अग बना···

उसकी दीठ का अनुसरण करते हुए हमारी भी आँख एक चश्मा-मंडित चेहरे पर अटक गयी। अटकने के लिए उस पर और था भी कम: चाँद एकदम ताजा अंडे-सी सपाट चिकनी, दाढ़ी-मूंछ यों ही साफ; भवें रही हों तो चश्मे के मोटे

चौखटे की ओट कहीं होंगी; आँखें भी मोटे कांच के पीछे ऐसी दीखती थीं जैसे छोटी बिल्लौरी कटोरी पर पानी में मसूर का एक दाना झलक रहा हो ! मसूर के नाम से एक ढिठाई-भरा मुहावरा याद आया था—'यह मुँह और मसूर की दाल'—पर ढिठाई यहाँ बेजगह होगी, और फिर मसूर की दाल के साथ मुक्त आसंग की लड़ी में पुरे क्या-क्या मुँह चले आ जाते उन सबको ताकने लगता तो साक्षी होने का क्या मुँह रह जाता—अपना-सा मुँहलेकर यहाँ नीचे लौटना पड़ता जहाँ किसी के कन्धे पर सवार होने का मजा भी नहीं रहा क्योंकि राजनीतिक तो सब कबन्ध हो गये है और अब चाहे जिस धड़ पर चाहे जिस रंग की टोपी वाला सिर जड़ दिया जाता है। (यह न पूछिए कि इसके लिए सिर बदलने की क्या जरूरत थी, टोपी बदलने से ही तो काम चल सकता था जबकि राजनीति है ही टोपी-उछाल विद्या का दूसरा नाम। बात यह है कि सिर के भीतर कुछ होना तो उसे शरीर से जुड़ा रखने का कुछ महत्त्व भी होता; जब वह केवल टोपी टाँगने का खूँटा है तब क्यों न टोपी के साथ वही बदल जाय—कि टोपी की तह भी न बिगड़े !)

पर बात उस चश्मा-मंडित डिम्ब-खल्वाटी की हो रही थी। विमानचालक ने अभिप्राय-भरी आँखों से उसकी ओर देखा था, क्योंकि वह वैज्ञानिक अनुसंधान-शाला का निदेशक था, और हवाई निशानेबाजी के कुछ नये यंत्र इसी अनुसन्धान-शाला से आये थे। शायद इसीलिए वैज्ञानिक को सफाई देने की कुछ विशेष आवश्यकता जान पड़ रही थी। उसका चेहरा यही कह रहा था कि ऐसा होना नहीं चाहिए था। ऐसे सार्वजनिक-राजनैतिक प्रश्नों से उसका कोई सरोकार नहीं है !

"विज्ञान केवल सत्य का शोध करता है। सत्य स्वयं-सिद्ध है, और स्वयं अपना परिणाम है। वह कार्य-कारण परम्परा में नहीं बँधता क्योंकि कारण और कार्य दोनों वह स्वयं है। इसलिए विज्ञान का उपयोग कौन कैसे करता है, इसकी ज़िम्मेदारी शोधक पर नहीं है—किसी भी सत्य का सदुपयोग भी हो सकता है, दुरुपयोग भी। हम वैज्ञानिकों के काम से बहुत-से परिणाम निकलते है जो भयानक है, पर उनकी जिम्मेदारी हमारी नहीं है।..."

सच्ची बात कि हम अब तक काफ़ी चकित, दिग्भ्रमित होने लगे है। यह तो सुनते थे कि सरकार में 'जिम्मेदारी बँटाने' को एक कला माना जाता है, और निर्णय के अधिकार का केन्द्रीकरण अच्छा नहीं समझा जाता। पर यहाँ तो मामला ही दूसरा था। विकेन्द्रीकरण की तो कौन कहे, यहाँ जितना ऊपर चलो ज़िम्मेदारी कम बतायी जा रही थी : जो जितना बड़ा अफसर उसकी उतनी कम जवाबदेही—भले ही उसके हर काम से परिणामों की अजस्र धारा बही जा रही हो और उसमें हजारों बहे-डूबे जा रहे हों ! इस हिसाब से तो जो सर्वोच्च अधिकारी होगा वह—

हमारी चिन्ताधारा एक छोटे-से तूफान से अवरुद्ध हो गयी। एक नया 'अभियुक्त' हाजिर किया गया था। और उसकी हर मुद्रा कुछ ऐसी अभिप्राय भरी थी कि वह मुँह से ही नही, आँखों, भवों, नासा, हाथ-पैर सभी से बात कर रहा जान पड़ रहा था। उपस्थित सभी लोग उसको देखकर व्यंग्य से मुस्करा दिये थे—पर वह किसी की परवाह किये बिना अपनी बात कह रहा था—बात क्या कह रहा था, दुहाई दे रहा था :

"हुजूर, मुझे गैर-जिम्मेदार न समझा जाय, मैं ज़िम्मेदार हूँ, पूरी तरह जिम्मेदार! मैं मदारी हूँ, मैने सारा जीवन खेल दिखाया है, पर हर काम ज़िम्मेदारी से किया है—मेरे किये बिना मेरा कोई काम नही हो सकता था—हुजूर, यही तो हुनर होता है···"

मन हमारा भी हुआ कि मुस्कराये। इसी को कहते है न 'गदहा पूछे कितना पानी'? यह सोचते हुए हमने उन दिग्गजों की ओर देखा जो पहले अपना बयान दे गये थे। ये सब इतने कर्मठ, कामकाजी, उच्चपदस्थ अधिकारी अपने को ज़िम्मेदारी से मुक्त बता रहे है, और जिम्मेदारी की दुहाई दे रहा है—दावा कर रहा है—केवल यह—यह बन्दर जो जीवन-भर खेल दिखाता रहा है, लोगों को हँसाता रहा है—जिसके किसी काम का कभी कोई 'परिणाम' नही निकला, कोई असर नहीं हुआ? एक बार तो बात ज़बान पर आयी कि कह दें : हमारी सभ्यता में हर कोई पापाक्रान्त है पर ज़िम्मेदारी नहीं जानता—कि सभ्यता की प्रगति का मतलब है आयेदिन नये अनुत्तरदायी कारकों का निर्माण! पर उस भरे दरबार में ज़बान खोलने से हम पर ही क्या जवाबदेही आ जायेगी, यह सोचकर चुप रह गये। मन ही मन सोचने लगे कि शायद ठीक ही तो है, मदारी ही तो ज़िम्मेदार है, क्योंकि जो खेल दिखाता है वह सम्पूर्णतया उसकी लीलामय कल्पना की उपज है; सब लोग लीला देखते है और प्रसन्न होते है पर 'कर्त्ता' तो वही एक है, दूसरे सबों में और उसके जम्हूरे में कोई बहुत ज्यादा अन्तर तो नही है···

पर यह सोच बीच में कट गयी। लगा कि खुदावन्द करीम की नज़र ईजानिब फिरी है; अन्तरात्मा मे कहीं एक स्वर गूँज गया कि 'ऐ नाचीज़, इस तरह रूपक का सहारा लेकर कर्त्ता की लीला (या शायद सही शब्द 'लीला के कर्त्ता' थे) पर व्यंग्य मत कर! छोटा है, छोटा ही रह···' और गूँज पूरी होते न होते पाया कि उसी अपनी केरल भूमि में एक नदी के किनारे पेड़ के तने से सटे बैठे हैं। अब और कोई उधर से गुज़रे तब तो उसके कन्धों पर सवार हों, उसे नचायें। पर हताश नहीं हुए। जहाँ नचाये जाने को आतुर इतने लोग फिर रहे हों, वहाँ ज़्यादा देर राह नहीं देखनी पड़ेगी, जल्दी ही कोई मिल जायेगा : जै हिन्द!

० ० ०